महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप

(इतर संस्कृत एवं वैदिक साहित्य की पृष्ठभूमि सहित विशेष विवेचन)

DONATION

[प्रथम भाग]

100988

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

डा० राजेश सत्यव्रत शास्त्री
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

R14.4,SAT-M
100988

मयंक प्रकाशन
कनखल, (हरिद्वार)

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप

डा० राजेश सत्यव्रत शास्त्री

प्रकाशक :
मयंक प्रकाशन,
मिश्रा गार्डन
हनुमानगढी
कनखल (हरिद्वार)

प्रथम संस्करण : अप्रैल १९८९

मूल्य : १०५.०० रुपये मात्र ।

मुद्रक :
साहित्यकार प्रैस, मेरठ ।

ओ३म्

प्राक्कथन

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में एम० ए० कक्षा के छात्रों को यजुर्वेद का महर्षि दयानन्द कृत भाष्य अन्य भाष्यकारों उवट तथा महीधर भाष्य से तुलना कराके पढ़ाते हुए देखा कि उक्त आचार्यों के भाष्यानुसार यजुर्वेद दार्शपौर्णमासादि यज्ञों का ही विधायक है। दोनों ही आचार्य अपने भाष्य का आधार कात्यायन श्रौतसूत्र को बनाते हैं। महीधर तो अपने भाष्य में कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रतीकों को रखकर उनकी व्याख्या करते हैं। ग्रिफिथ ने भी अपने आंग्ल भाष्य को उक्त आचार्यों का अनुसारी बतलाया है। यजुर्वेद भाष्य से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण में भी उपर्युक्त यज्ञों की ही चर्चा है। इस ग्रंथ में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनसे अर्थों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। यथा "राष्ट्रं वा अश्वमेध: असावादित्यो अश्वमेध," "ब्रह्म हि यज्ञ: यज्ञो वै विष्णु:" आदि। इन स्थलों पर राष्ट्र तथा आदित्य अश्वमेध के वाचक तथा यज्ञ ब्रह्म तथा विष्णु का द्योतक हो जाता है। ये अर्थ मान लेने पर उपर्युक्त शब्दों में राष्ट्र आदि का पालन अश्वमेध हो जाता है। अश्व को मारकर यज्ञ में डालने का वहां प्रश्न ही नहीं उठता। पुनरपि वहां ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनसे अश्वमेध आदि की क्रियाओं की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार यजुर्वेद क्रियाकाण्डमात्र का विधायक तथा विनियोगों की शृंखला में आबद्ध होकर रह गया था, चाहे विनियोग मंत्रों के वर्णित अर्थ से विपरीत ही क्यों न हो।

महर्षि दयानन्द के भाष्य से विदित होता है कि यजुर्वेद केवल यज्ञों का ही विधायक नहीं है, अपितु इसमें समाज से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उच्च तत्वों का समावेश है। कई विषय तो विज्ञान के लिये भी नूतन हैं। कृषि के लिये भूपरीक्षण; भूमि तथा बीज को संस्कृत एवं सुगन्धित करके बोना, ज्वालामुखी तथा सूर्य-प्रकाश से विद्युत निकालना तथा रश्मि से रथ अर्थात् यान का चलना, आज के विज्ञान के लिये नूतन हैं। महर्षि दयानन्द ने एक शती पूर्व इन सबका उल्लेख किया था। इससे उन लोगों को भी सोचना पड़ेगा कि जो यह कहते हैं कि जो नूतन आविष्कार विज्ञान निकाल देता है, उसे ही लोग वेदों से सिद्ध करने लगते हैं। यदि यह वेदों में था तो पहले उसका उल्लेख क्यों न किया।

महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य पर सामाजिक दृष्टि से जो कार्य हुआ है, वह अत्यल्प है तथा वह इस विषय पर प्रकाश नहीं डालता। महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य पर सामाजिक तत्वों की दृष्टि से विचार करना अतीव आवश्यक है। जिससे वेद में रुचि रखने वाले भारतीय तथा अन्य देशीय विद्वानों के सामने यजुर्वेद का एक नूतन रूप भी सम्मुख आये, जिसमें केवल यज्ञों का ही नहीं, अपितु उन्नत समाज

से सम्बद्ध तत्वों के समावेश का दर्शन भी वे कर सकें। इस दृष्टिकोण को सम्मुख कर मेरा यह प्रयास है।

इस कार्य की सम्पन्नता के लिए मैं अपने निदेशक डॉ० रामनाथ जी तथा डॉ० वाचस्पति उपाध्याय का सादर आभार प्रकट करता हूँ। जिन लेखों के ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है, मैं उनका भी आभारी हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये ४८००) की सहायता प्रदान की है, उसके लिये विश्वविद्यालय के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं।

मयङ्क प्रकाशन के स्वामी तथा अधिकारियों का मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जिनके सौजन्य से यह पुस्तक पाठकों को दृष्टिगत हो सकी है।

अन्य भी जिन व्यक्तियों का इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग रहा है, मैं उन सब का आभारी एवं ऋणी हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
ऋषिबोधोत्सव
१९८९

विदुषां वशंवदः—
डॉ० सत्यव्रत राजेश
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

प्रस्तुत ग्रन्थ, डॉ० सत्यव्रत राजेश का शोधप्रबन्ध गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में पी०-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य को आधार बनाकर, वेदों में निहित समाज के स्वरूप का, विशेष रूप से वर्ण-व्यवस्था और आश्रमव्यवस्था का चित्रण किया है। ग्रन्थ की महनीयता इसके प्रकरणों से स्पष्ट है, जो डॉ० राजेश की मनीषा, प्रतिभा, विवेचना शक्ति और परिश्रम को अभिव्यक्त करते हैं।

कृष्णकुमार
सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष संस्कृत
गढ़वाल विश्वविद्यालय

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
	प्राक्कथन	i–iii
	विषय-सूची	iv–vi
प्रथम अध्याय	विषय-प्रवेश	१–२१
	(१) वैदिक समाज में विचार का महत्व	१
	(२) समाज संगठन का वैशिष्ट्य और यजुर्वेद	१
	(३) भारतीय समाज की वेदमूलकता	१
	(४) यजुर्वेद के भाष्यकार	२
	(५) महर्षि दयानन्द	२
	(६) अन्य भाष्यकार	३
	(७) महर्षि दयानन्द की विशिष्टता	३
द्वितीय अध्याय	वर्ण-व्यवस्था	२२–६४
	(१) महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज के वर्ग	२२
	(२) ऋग्वेद में वर्ण पद का अर्थ	२२
	(३) वर्ण तथा जाति	२४
	(४) वर्ण-व्यवस्था का आधार	२६
	(५) वर्ण-व्यवस्था का आधार और महर्षि दयानन्द	२७
	(६) वर्ण के महत्व का आधार	३०
	(७) वर्णों का पारस्परिक प्रेम	३१
	(८) वर्ण-परिवर्तन	३१
	(९) गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था पर गौतम बुद्ध के विचार	३४
	(१०) वर्णों की संख्या	३७
	(११) महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य में वर्णों का उल्लेख	४२
	(१२) चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा अन्य समाज	४३
	(१३) ब्राह्मण के कर्तव्य	४४
	(१४) क्षत्रिय तथा उसका महत्व	४६
	(१५) क्षत्रिय के गुण, कर्म, स्वभाव तथा कर्तव्य	४७
	(१६) वैश्य का महत्व	५२
	(१७) वैश्य तथा उसके कर्तव्य	५३
	(१८) ऋग्वेद में वैश्य का उल्लेख	५३
	(१९) शूद्र का महत्व,	५६

(२०) शूद्र के गुण तथा कर्तव्य ५७
(२१) वेद और शूद्र ५८
(२२) शूद्र और वेदाध्ययन ६०
(२३) शूद्र तथा यज्ञाधिकार ६१
(२४) शूद्र और यज्ञोपवीत ६२
(२५) शूद्रों से प्रेम और सहानुभूति ६३

तृतीय अध्याय आश्रम-व्यवस्था ६५—१२३

(१) महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में वर्णित आश्रम-व्यवस्था ६५
(२) आश्रम शब्द की परिभाषा ६५
(३) आश्रम की महत्ता ६५
(४) आश्रमों की संख्या एवं क्रम ६६
(५) आश्रमों का उद्देश्य ६७
(६) आश्रमों के करणीय कर्म ६८
(७) आश्रमों का वेदों में उल्लेख ६८
(८) आश्रमों का ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख ७१
(९) ब्रह्मचर्य ७१
(१०) ब्रह्मचर्य का महत्व ७३
(११) ब्रह्मचर्य की तीन कोटियाँ ७४
(१२) ब्रह्मचारी के कर्तव्य ७६
(१३) अध्ययन सम्बन्धी कर्तव्य ७७
(१४) गुरु-सेवा ७८
(१५) शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति ७८
(१६) ब्रह्मचारी के अन्य कर्तव्य ७९
(१७) गृहस्थ-आश्रम—गृहाश्रम का महत्व ८२
(१८) गृहाश्रमी के भेद ८४
(१९) गृहस्थ में प्रवेश की प्रेरणा ८५
(२०) गृहाश्रम में प्रवेश का समय ८५
(२१) विवाह की महत्ता ८८
(२२) विवाह के लिये पुरुष की योग्यता ९०
(२३) विवाह के लिये कन्या की योग्यता ९२
(२४) विवाह का प्रकार ९३
(२५) स्वयंवर विवाह ९४
(२६) कुमारियों को स्वयंवर का उपदेश ९५
(२७) स्वयंवर विवाह के लाभ ९६

(२८) विवाह का स्थान ९७
(२९) गृहस्थ धारक तत्व ९७
(३०) स्त्री का पति के प्रति व्यवहार तथा कर्तव्य ९९
(३१) उत्तम भोजन-निर्माण ९९
(३२) पति के धन की सुरक्षा तथा वृद्धि १००
(३३) धार्मिक कृत्यों में पति का सहयोग १००
(३४) पति-पत्नी के सम्मिलित कर्तव्य १००
(३५) सह भोज १०१
(३६) पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि १०१
(३७) अन्य कर्तव्य १०१
(३८) गृहस्थों के वस्त्राभूषण १०२
(३९) गृहस्थों का भोजन १०३
(४०) सन्तानोत्पत्ति १०४
(४१) सन्तान का पालन और निर्माण १०५
(४२) सन्तान की शिक्षा १०६
(४३) वानप्रस्थ-आश्रम—वानप्रस्थ और उसका काल १०७
(४४) वानप्रस्थ के भेद १०८
(४५) वानप्रस्थ के कर्तव्य १०९
(४६) संन्यास—संन्यास शब्द का अर्थ १११
(४७) संन्यास के मुख्य कारण ११२
(४८) संन्यास ग्रहण की आवश्यकता ११२
(४९) संन्यास का अधिकार ११३
(५०) संन्यास का काल ११४
(५१) संन्यास के भेद ११५
(५२) संन्यास में वर्जनीय वस्तु ११६
(५३) वेदों में संन्यास का उल्लेख ११९
(५४) संन्यासी के उपकरण १२०
(५५) संन्यासी के कर्तव्य १२०

उपसंहार १२४–१२६
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची १२७–१३२

—:o:—

ओ३म्

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

(१) वैदिक समाज में विचार का महत्व

वैदिक समाज में विचार के महत्व को स्वीकारा गया है। वेद शब्द जिन 'विद्' धातुओं से निष्पन्न हुआ है, उनमें एक धातु का अर्थ विचारना भी है। वर्णाश्रम व्यवस्था राज्यव्यवस्था आदि सब विचार की ही सम्पत्ति ही तो है। वेद, तत्वज्ञानी पुरुष को पिता का पिता बतलाता है।[1] वेद के अनुसार तो प्रजापति परमात्मा ने विचार कर सत्य और असत्य का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।[2] वैदिक समाज में मानव को पशु श्रेणी से पृथक् करके मानव ही इसलिये कहा जाता है कि वह सोच विचार कर कार्य करता है।[3] कदाचित इसीलिये वेद ने ज्ञानी पुरुष को प्रशंसनीय बतलाया है।[4]

(२) समाज संगठन का वैशिष्टय और यजुर्वेद

प्राचीनकाल से ही आचार्य यजुर्वेद में यज्ञों का महत्व स्वीकार करते आए हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में देव सविता से श्रेष्ठतम कर्म में प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है,[5] जो कि 'शतपथ' के अनुसार यज्ञ ही है।[6] यज्ञ की भावना ही समाज की निर्मात्री है। यज्ञ की मूल धातु 'यज्' का एक अर्थ संगतीकरण भी है। यह संगतीकरण ही तो समाज है। जब अनेक गुण कर्म वाले तथा विभिन्न कार्य करने वाले स्त्री-पुरुष समूह का रूप धारण करते हैं, तो उसे ही समाज कहते हैं।

(३) भारतीय समाज की वेदमूलकता

भारतीय समाज का मूलाधार वेद है। वैदिक धर्मी वेद की दृष्टि से देखता

---

१. यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ।। यजु ३२.९

२. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।। यजु० १९.१७

३. मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति ।। निरुक्त

४. ऋ० १०.७१.४-५

५. देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।। यजु० १.१

६. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ।। शतपथ ब्राह्मण

है।[1] वेद से ही सब नाम तथा कामों का ज्ञान होता है।[2] उसी से चारों वर्ण, तीनों लोक तथा तीनों काल प्रसिद्ध होते हैं।[3] धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र आदि सब वेद से ही निकले हैं।[4] वाचस्पति गैरोला ने 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' तथा ज्ञानी शिवदत्त ने 'वेदकालीन समाज' नामक अपने ग्रन्थों में वर्ण, आश्रम, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, राष्ट्र संचालन, कृषि, व्यवसाय, गोपालन आदि समाजोपयोगी तत्वों को वेदों से प्रदर्शित किया है।

(४) यजुर्वेद के भाष्यकार

शुक्ल तथा कृष्ण, इन दो भागों में विभक्त यजुर्वेद के शुक्ल कहे जाने भाग की माध्यन्दिनी तथा काण्व दो शाखायें हैं। महर्षि दयानन्द प्रथम को मूल वेद मानते हैं। महर्षि दयानन्द से पूर्व उसके भाष्यकार शौनक, हरिस्वामी, उवट, गौरधर, रावण तथा महीधर हैं। महीधर तान्त्रिक था। उसने मन्त्र महोदधि नामक तन्त्र ग्रन्थ तथा उसकी टीका भी लिखी है। उवटभाष्य तथा कात्यायनश्रौतसूत्र उसके आधार ग्रन्थ हैं।

काण्व संहिता के भाष्यकार सायण, आनन्दबोध, अनन्ताचार्य या अनन्त भट्ट, कालनाथ, मुरारिमिश्र, हलायुध, आदित्यदर्शन, देवपाल तथा सोमानन्द हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार कुण्डिन, भवस्वामी, गुहदेव या गुहदेवस्वामी, कौशिक भट्ट, भास्कर मिश्र, क्षुर, सायण, वेंकटेश, बालकृष्ण, हरदत्त मिश्र तथा शत्रुघ्न हैं। कठ, कपिष्ठल कठ तथा मैत्रायणी शाखा के भाष्य उपलब्ध नहीं होते।

कुछ आचार्यों ने केवल रुद्राध्याय का ही भाष्य किया है। वे हैं—अभिनव शंकर या वेंकटनाथ, अहोबल, हरदत्तमिश्र, वेणीराय सामराज, मयूरेश, राजहंस सरस्वती, भवानीशंकर, अनन्त, हररात, भवदेव तथा एक अज्ञात भाष्यकार।[5]

(५) महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द को यदि वेदोद्धारक कहा जाए तो इसमें अत्युक्ति, न होगी।

---

१. वेदश्चक्षुः सनातनम् ॥ मनु० १२.९४
२. सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु १.२१
३. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥ मनु० १२.९७
४. निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥ याज्ञ०
५. इन सबके लिये देखिये—पं० भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग—२

वे ऐसे काल में हुए जिसमें वेदों का पठन पाठन लुप्तप्राय: था। पं० भगवद्दत्त ने ठीक ही लिखा है—दयानन्द सरस्वती के साथ हम वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं। वैदिक विद्या के लिये वह समय नितान्त अनुपयोगी था। इस युग में वैदिक ग्रन्थों का ह्रास हो रहा था। वेदाभ्यासियों की गणना अंगुलियों पर हो सकती थी। काशी सदृश विद्या के क्षेत्र में वेदार्थ जानने वाला कठिनाई से मिलता था। वेदों की अनेक शाखायें लुप्त हो चुकी थीं। जो विद्यमान थीं, वे भी सुलभ न थीं। राजकीय आश्रय का कोई अवसर न था। वह राज्य-सहायता जो सायण और हरिस्वामी को प्राप्त थी, अब प्राचीन काल का स्वप्न हो चुकी थी। वे विद्वान् सहायक जो स्कन्दस्वामी और सायण आदि को अनायास मिल सके थे, अब खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं होते थे। ऐसी अवस्था में दयानन्द सरस्वती ने जन्म लिया।[१]

इनका जन्म सम्वत् १८८१ वि० में टंकारा (गुजरात) में तथा मृत्यु सम्वत् १९४० में दीपावली के दिन अजमेर (राजस्थान) में हुई।

इन्होंने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक का तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य किया। इनका भाष्य मौलिक है जो प्राचीन ऋषि मुनियों की शैली पर आधृत है।[२] वे सायण महीधर आदि के भाष्यों को सर्वथा युक्त नहीं मानते थे। उनके ऐतिह्य तथा अश्लीलादि स्थल उन्हें मान्य नहीं थे। वे अपने वेदभाष्य को इससे सर्वथा अछूता रखने में सफल रहे हैं।

(६) अन्य भाष्यकार

यजुर्वेद के हिन्दी व्याख्याकारों में पं० जयदेव विद्यालंकार, पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र, सातवलेकर, विश्वानन्द विदेह, स्वामी ब्रह्ममुनि, श्रीराम शर्मा आचार्य तथा विद्वत्परिषद् गुरुकुल वृन्दावन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। श्रीधर का मराठी अनुवाद भी उपयोगी है। आंग्ल में ग्रिफिथ का अनुवाद भी है जो महीधर का अनुसरण करता है। पं० जयदेव विद्यालंकार तथा ग्रिफिथ के चतुर्वेदभाष्य मिलते हैं।

(७) महर्षि दयानन्द की विशिष्टता

(क) पुनरुक्त दोष निवृत्तिः—

वेदों में कुछ मन्त्र एक से अधिक बार आए हैं। भाष्यकार प्राय: प्रथम बार आए मन्त्र का अर्थ करके आगे मन्त्रों में 'व्याख्यातम् या व्याख्याता' लिख देते

---

१. वही, पृ० ८५

२. आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्या रीतिः सनातनी। तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १

हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द प्रायः प्रत्येक वार मन्त्र का अर्थ करते हुए कि कुछ विभिन्नता ला देते हैं। उदाहरणार्थ—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में तीन स्थानों पर आया है। इसमें ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये सुपथ से चलने तथा कुटिलता दूर करने की परमात्मा से प्रार्थना की गई है। एक मन्त्र में[1] सुपथ सुकृत् का शोभन धर्मयुक्त मार्ग है, रयि-ऐश्वर्य है, परम श्री मोक्ष सुख की प्राप्ति तथा जाने वाले हैं, अभ्युदय निःश्रेयस सुख की इच्छा वाले लोग— उभय लोक सुख प्रापक जन अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक सुख की इच्छा वाले। यजु० ७·४३ में वह रयि (धन) योगसिद्धि हो जाता है तथा हम हो जाते हैं 'योगिजन। ४०·१६ में वह धन विज्ञान, धन तथा वसु सुख हो जाता है— (विज्ञानाय धनाय वसुसुखाय) तथा हम हो जाते हैं जीव (जीवान्)। इसी प्रकार जिस 'जुहुराण' को दूर करने की प्रार्थना की गई है वह भी क्रमशः कुटिलम्, अस्मदन्तःकरणस्य कौटिल्य, कौटिल्यम्, कुटिल व्यवहार, अन्तःकरण की कुटिलता तथा जीवन की कुटिलता है। अन्य मन्त्रों में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

(ख) हिंसा निषेध—

वेद भाष्यकारों ने कुछ मन्त्रों के हिंसापरक अर्थ किये हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द ने उन मन्त्रों के सत्य अर्थ करके वेद के मस्तक से हिंसा के कलंक को सदा के लिये धो दिया है। विद्वान् 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की उक्ति प्रस्तुत करके उस प्रक्रिया का समर्थन करते थे। यदि दण्डनीय को दण्ड देने में इस उक्ति को कार्यान्वित किया जाए तब तो ठीक है। क्योंकि रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि[3], प्रत्युष्टं रक्षो प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तंरक्षो निष्टप्ता अरातयः,[4] भ्रातृव्यस्य वधाय,[5] द्विषतो वधः,[6] ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।

परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥[7]

---

१. यजु ५.३६
२. यजु १६.३८, ३५.१६। १३.१४, १५.२०। ११.५०–५२, ३६.१४–१६। १५.५४, १८.६१। २०.२१, २७.१०, ३५.१४। १२.७६, ३५.४ तथा ३३.१६, ३३.७१।
३. यजु ५.२२।
४. यजु १.७, २६।
५. यजु १.१८।
६. यजु १.२४।
७. यजु २.२०, २६।

आदि मन्त्रों में यथापराध मारने, सन्ताप देने, बाँधने तथा निष्कासन आदि दण्डों का विधान वेद में मिलता है जिससे महर्षि दयानन्द भी सहमत हैं। किन्तु निरीह पशुओं को मारकर यज्ञ में डालने का महर्षि दयानन्द स्पष्ट निषेध करते हैं। उनका कथन है कि पशु मार कर होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा।[1] उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो तुझे और तेरे कुटुम्ब को मार कर होम कर डालें तो क्या चिन्ता है।[2]

यद्यपि कुछ भाष्यकारों ने वेदों में भी हिंसापरक अर्थ किये हैं, किन्तु महर्षि दयानन्द के भाष्य से हिंसा की गन्ध भी नहीं आती। सायण ने एक मन्त्र के भाष्य में अग्नि को वन्ध्या गौ, बैल तथा गर्भिणी से आहुत अर्थात् आराधित बतलाया है।[3] रामगोविन्द त्रिवेदी भी सायण का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—हे भरणकर्ता अग्नि! तुम हमारे हो वन्ध्या गौ, वृष और गर्भिणी गौ द्वारा आहुत हो।

महर्षि दयानन्द ने 'भारताग्ने' का अर्थ 'धारक विद्वान्' किया है और वे लिखते हैं कि हे विद्वन्! आप हमारे पोषक हैं। हम गाय बैल आदि पशुओं का दान करके तथा शुभ वचनों से आपका सत्कार करते हैं। महर्षि ने 'अष्टापदी' का अर्थ चार अपने तथा चार बच्चे के पैर वाली गर्भिणी गाय नहीं किया, अपितु आठ विभक्तियों वाली वाणी किया है।

एक मन्त्र[4] में अग्नि को सम्बोधित करते हुए सायण उसके लिये पशु के मध्य भाग से निकालकर वपा की हवि देने तथा चमड़े के ऊपर गिरे बिन्दुओं को सब देवों को बांटने की चर्चा करता है। ऐसा ही अर्थ रामगोविन्द त्रिवेदी भी करते हैं, जबकि महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"वसो! हम शुद्ध घी की आहुति देते हैं, स्तुतियों के साथ आप देवों तक इनको पहुँचावें।" पशुओं के अन्दर से ही घी निकलता है। 'मेद:' शब्द भी 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से बनता है। अत: महर्षि दयानन्द ने स्नेह:=चिकनाई अर्थ किया है तथा सायण ने वपाख्यं हवि: अर्थ किया है। वेद में अनेक स्थलों पर 'देवा आज्यपा:' अर्थात् देव घी पीने वाले हैं लिखा है। अत: महर्षि का अर्थ वेद-सम्मत कहा जा सकता है।

सायणाचार्य ने एक मन्त्र[5] में इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तेरे लिये पूषा तथा विष्णु सौ महिष अर्थात् भैंसों को पकाते हैं। ऐसा ही अर्थ

---

१. सत्यार्थ प्रकाश समु० १२ पृ० ६१६।

२. वही पृ० ४२४।

३. त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभि:। अष्टापदीभिराहुत:॥ ऋ० २.७.५

४. ऋ० ३.२१.५।

५. ऋ० ६.१७.१।

राम गोविन्द त्रिपाठी ने भी किया है। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए 'महिष' का अर्थ भैंस न करके महान् किया है। तथा उस अर्थ की पुष्टि में निघण्टु (३.३) को उद्धृत किया है। वहाँ महिष शब्द महान् के अर्थ में पठित है। वे इन्द्र का अर्थ राजा करते हुए लिखते हैं कि हे राजन् ! जो आपको सौ [सैंकड़ों] बड़े पदार्थ देता है और जो परोपकार के लिये पाक करे उसको आप जानें।

यजुर्वेद में भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ उवट, महीधर तथा ग्रिफिथ ने हिंसापरक अर्थ किये हैं। इनमें षष्ठ अध्याय में अग्निषोमीय पशु के मारने का उल्लेख है। ८.२८ से ३१ तक अनुबन्ध्यावशा के गर्भिणी होने पर प्रायश्चित्त के रूप में समय से पहले उसका गर्भ निकालना, गर्भरक्त को आहुति देना, गाय को मार उसके विभिन्न अंगों की आहुति देना तथा गर्भस्थ प्राणी को भी उष्णीष में लपेट कर आहुति देना एवं २३वें अध्याय में अश्व को मारने का उल्लेख मिलता है। किन्तु महर्षि दयानन्द ने उन स्थलों पर क्रमशः राजधर्म, शिक्षा, गर्भरक्षा, वेदमहत्ता तथा उत्तम राजनीति के तत्व प्रदर्शित किये हैं। हम उदाहरण के लिये यजुर्वेद के एक मन्त्र को उद्धत करते हैं। शेष स्थलों को पाठक स्वयं देख लें।

यजुर्वेद ६.१४ मन्त्र में कोई किसी के वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभिगुदा, लिङ्ग, तथा चरित्र के शोधन की बात कही गई है। यह शोधक तथा जिसे शुद्ध किया जा रहा है कौन हैं, इस विषय में उवट, महीधर तथा ग्रिफिथ कहते हैं कि यजमान पत्नी यज्ञ के लिये मारे गये पशु का शोधन करती है। वह पान्नेजन पात्र से जल लेकर पशु के अंगों का स्पर्श करती है तथा उसके शोधन की चर्चा करती है। चरित्र का अर्थ वे पैर करते हैं। काण्व संहिता के भाषा में सायण भी ऐसा ही अर्थ करते हैं। इससे यज्ञों में पशु हिंसा की पुष्टि होती है तथा विपक्षियों को वेदों पर आक्षेप करने का अवसर मिलता है। किन्तु महर्षि दयानन्द के अनुसार आचार्य तथा आचार्या अपने शिष्य-शिष्याओं को उनकी समस्त इन्द्रियों के दोष निकालने का वचन देते हैं। इससे शिक्षा का एक उद्देश्य इन्द्रियशोधन भी है, यह शिक्षाशास्त्र के अध्येताओं को वेद से शिक्षा मिलती है। चरित्र का अर्थ वे व्यवहार करते हैं। क्योंकि जीवन चलता ही व्यवहार के ऊपर है। अतः महर्षि दयानन्द इस मन्त्र से शिक्षासूत्र के दर्शन कराते हैं, पशुहिंसा की इसमें गन्ध भी नहीं। सम्भव है शिक्षा द्वारा मानव के अन्दर के पशुत्व की भावना निकालने को ही आचार्यों ने पशुयाग कहा हो जो कालान्तर में अपने श्रेष्ठ अर्थों से विकृत होकर इस घृणित तथा निर्दय प्रथा में परिणत हो गया हो।

(ग) अश्लीलता निवारण—

महर्षि दयानन्द से पूर्ववर्ती वेदभाष्यकार तथा उनका अनुकरण करने वालों के वेदभाष्य में अश्लील अर्थ भी मिलते हैं। इससे वेदों का गौरव न्यून होता है तथा समाज में विकृति आने की सम्भावना है। क्योंकि व्यक्ति का स्वभाव जल की

भाँति निम्न की ओर दौड़ने का है। यदि उसे धर्म के मूल में भी ऐसी प्रवृत्ति मिल जाए तो वह उच्च मार्ग पर क्यों चले। किन्तु हम देखेंगे कि महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में उस दोष का पूर्ण परिमार्जन मिलता है। वस्तुत: वह भाष्यकारों के समझ की भूल थी, वेद निर्दोष थे।

ऋग्वेद १.१२६.६७ का भाष्य करते हुए स्कन्द, सायण तथा वेंकट माधव ने भावयव्य तथा उसकी पत्नी रोमशा की कथा को इस मन्त्र से प्रदर्शित किया है। इसके अनुसार भावयव्य से रोमशा संभोग के लिये प्रार्थना करती है तथा वह हंसते हुए 'आगधिता' आदि मन्त्र से उसके छोटा होने की ओर संकेत करता है। वेंकट माधव तो एक पग और आगे बढ़कर कहता है कि यह कथा रोमशा तथा इन्द्र के बीच हुई थी। इसके अनुसार बृहस्पति अपनी कन्या रोमशा का विवाह भावयव्य से करता है। इन्द्र भावयव्य का मित्र है। अत: वह इस समाचार को जानकर श ची सहित भावयव्य से मिलने आता है। वहाँ उन्हें रोमशा मिलती है जिससे वे मैत्री वश पूछ लेते हैं कि रानी तेरे बाल उगे अथवा नहीं ? वह बालभाव से उनसे कहती है कि छूकर देख लो। दुर्गाचार्य भी निरुक्त भाष्य में अश्लीलता से वेद को अछूता न रख सके।

ग्रिफिथ ने अपने भाष्य में इस तथा इससे अगली ऋचा का अर्थ अश्लील कह कर छोड़ दिया है। किन्तु परिशिष्ट में लेटिन अनुवाद देकर लिखा है—They look like a fragment of a liberal sheperd's love song.[1]

यह इस प्रकार के भाष्यों की ही कृपा है जो वेद गड़रियों के प्रेमगीत से बन गए हैं। एच० एच विल्सन भी इन्हीं भावों को प्रकट करते हुए लिखते हैं—She who, when her desires are assented to, clings as tenaciously as a female weasal, and who is ripe for enjoyment, yields me infinite delibt.[2]

अगले मन्त्र में भी इन भाष्यकारों तथा दुर्गाचार्य ने अश्लील अर्थ प्रदर्शित किये हैं जिसके अनुसार रोमशा कहती है कि आप मेरे गुप्ताङ्गों को छूकर देख लें तथा मुझे छोटी न समझें किन्तु सम्भोग के योग्य समझें। मेरे गुप्ताङ्ग पर गन्धार देश की भेड़ के समान बाल हैं। इस अर्थ को पढ़कर ग्रिफिथ ही क्या, प्रत्येक खुली आँखों वाला वेदों को उच्च शिक्षा रहित ही मानेगा। ऐसी बातें लोक में भी निन्दनीय मानी जाती हैं फिर धर्म के आदि स्रोत में तो ऐसी बातें होनी ही नहीं चाहियें। किन्तु जैसा हम पूर्व कह आए हैं यह दोष वेद का नहीं अपितु उनके अर्थ न समझने का है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य में इन दोनों मन्त्रों के शुभगुण-युक्त नीति तथा राजा के समान रानी को स्त्रियों का न्याय करने का उल्लेख किया

---

१. Hymns of the Rigveda P. 64।

२. द्र० १·१२६ का विल्सन भाष्य।

है। उनके अनुसार प्रथम मन्त्र में शिक्षा दी गई है कि राजा को सब ओर से ग्रहण करने योग्य, शुभगुणों से युक्त, ताडन तथा प्रयत्न वाली तथा असंख्य धन एवं भोग्य पदार्थ देने में समर्थ नीति अपनानी चाहिये। दूसरे मन्त्र में रानी राजा से कहती है कि मैं पृथिवी का राज्य धारण करने वाली स्त्रियों में रक्षा करने वाली हूँ। मेरे गुणों को विचारों तथा मेरे कर्मों को कम मत न जानो। भावार्थ में वे लिखते हैं— रानी राजा से कहे कि मैं आपसे न्यून गुण वाली नहीं हूँ। आप जैसे पुरुषों के न्यायाधीश हैं वैसे ही मैं स्त्रियों का करने वाली हूँ।

इस अर्थ में न कहीं ऐतिहासिकता की गन्ध है और न अश्लीलता की। अपितु उत्तम राजनीति तथा सम्राज्ञी की योग्यता की उत्तम शिक्षा दी गई है। राजा को उत्तम नीति अपनानी चाहिये तथा स्त्रियों को स्त्रियों के न्याय आदि राज्य कार्यों में भाग लेना चाहिये। मन्त्र से नारी के महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है।

ऋग्वेद की भाँति यजुर्वेद में भी उवट और महीधर ने राज महिषी का मृत अश्व से समागम[1], अध्वर्यु-कुमारी का[2], ब्रह्मा-महिषी का[3], उद्गाता-वावाता का[4], होता परिवृक्ता का[5] तथा क्षत्ता-पालागली[6] का परस्पर अश्लील भाषण दिखलाया है। जिसमें संकेत से गुप्ताङ्गों का दिखाना, योनि को विशाल करना आदि अनेक प्रकार की अश्लीलता का उल्लेख किया गया है। उन सब का संकेत ही पर्याप्त है।

किन्तु महर्षि दयानन्द ने उन्हीं मन्त्रों में ईश्वरोपासना (२३·१९), राजप्रजा व्यवहार (२०), राजा द्वारा दुराचारियों को दण्ड (२१), राजा का प्रजा के प्रति व्यवहार, माता-पिता द्वारा सन्तान की शिक्षा, राजा द्वारा न्याय व्यवहार करके बढ़ना, राजा-प्रजा का अधर्म से डरना दोनों का परस्पर न्याय प्रेम का व्यवहार तथा राजा का उच्च आचरण वाला होना आदि जीवनोपयोगी तत्त्वों का मूल देखा।[7]

अश्लीलता निवारण उनके वेदभाष्य की तीसरी विशिष्टता है।

(घ) वाचक लुप्तोपमा आदि का प्रयोग—

वेद में कुछ शब्द ऐसे आते हैं जो जल पृथिवी उषा आदि प्राकृतिक वस्तुओं तथा

---

१. द्र० उवट-महीधर भाष्य —यजु० २३·१९–२१
२. २३·२२–२३।
३. २३·२४–२५।
४. २३·२६–२७।
५. २३·२८–२९।
६. २३·३०–३१।
७. द्रष्टव्य २३·२२–३१ का महर्षिदयानन्दभाष्य। अश्लीलता के लिये यजु० ५·२ का उवट-महीधर तथा महर्षि दयानन्द का भाष्य द्रष्टव्य हैं। ऋ० ६·४६·३ का सायण-दयानन्द भाष्य भी दर्शनीय हैं।

सीसा, रजत आदि भौतिक वस्तुओं के वाचक हैं। यदि उनके लोकप्रसिद्ध अर्थ किये जायें तो कहीं-कहीं अटपटा सा अर्थ हो जाता है। वहाँ विशेषणों का विशेष्य से सम्बन्ध स्थापित करने में अर्थ में खींचतान करनी पड़ती है तथा अर्थ में अस्वाभाविकता भी आ जाती है। जैसे कि एक मन्त्र में वाजी से कहा जा रहा है कि तू स्वयं अपने शरीर को इच्छित रूप वाला बना, स्वयं यजन कर तथा स्वयं यथारोचित स्थान का सेवन कर। तेरी महिमा किसी अन्य से व्याप्त नहीं की जाती।[1] विचारशील व्यक्ति समझ सकते हैं कि विशेष बुद्धिरहित प्राणी अश्व उपर्युक्त कार्यों में से किसी को भी करने में समर्थ नहीं है। किन्तु मन्त्र में 'वाजिन्' शब्द आया है जिसका लोकप्रसिद्ध अथ घोड़ा होता है। अतः समस्त मन्त्र के अर्थों को अश्व से सम्बद्ध किया गया चाहे वे संगत होते हों अथवा नहीं। किन्तु महर्षि दयानन्द ऐसे स्थल पर अर्थ में तरलता लाकर संगत अर्थ कर देते हैं। यहाँ उन्होंने 'वाजिन्' का अर्थ 'जिज्ञासो' करके अर्थ का संगतीकरण किया हैं। वाचक लुप्तोपमालंकार के कारण उनके वेदभाष्य में द्यावापृथिवी, राजनीति तथा भूमि का राज्य हो गए हैं (१२·२९), भानु—पुरुषार्थ प्रकाशक (१२·३३), अग्नि—सेनेश तथा अग्निवत् सब विद्यावों में व्याप्त विद्वान् (१२·३४, २०·१४), सूर्य—सूर्यवद् वर्तमान विद्वान् (२०·१६), सोम—ऐश्वर्ययुक्त (२६·२५), नारिः—नायक (३७·१), हरिण—हरणशील वीर (२९·१२), अर्वन्—अश्व के समान वेगवाला विद्वान् (२९·१२), सीसा—प्रेमवन्धिका (२३·१७), रजता—अनुरक्ता (२३·१७), लोक—अनुकूल वचन (२३·३६), पृथिवी—भूमि के तुल्य वर्तमान स्त्री (३५·२१, ३६·१३) या कन्या (३५·५) या भूमि के तुल्य क्षमाशील स्त्री (३५·२१), आपः—जल के समान विदुषी सत्स्त्रियाँ या जलवत् शुभगुणव्यापक स्त्रियाँ (३६·१४, ११·५०), अपामार्ग—रोगनिवारक अपामार्ग औषधि के समान पाप को दूर करने वाला (३५·१) बन जाता है।

महर्षि दयानन्द की यह प्रवृत्ति उनके समस्त वेदभाष्य में मिलती है, जबकि अन्य भाष्यकारों के भाष्य में यह प्रवृत्ति अन्यन्त अल्प मात्रा में एकाध स्थान पर ही उपलब्ध होती है। यह उनके वेदभाष्य की चौथी विशिष्टता है।

(ङ) असम्भव अर्थ निवृत्ति

भाष्यकारों ने वेदमन्त्रों से अनेक असम्भव गाथाओं को भी निकाला है। यदि उन्हें वास्तविकता के निकष पर रखा जाए तो उनमें सत्य के दर्शन नहीं होते। महर्षि दयानन्द ने वेदों को सब सत्य विद्याओं के पुस्तक बतलाया है।[2] उन्होंने वेदभाष्य

---

१. स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न संनशे॥ यजु० २३·१५।

२. यत् सम्वतसमृभवो गामरक्ष यत्संवत्समृभवो का अपिशन।
यत्सम्वत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥ ऋ० ४·३३.४।

में उन सब असम्भव गाथाओं के स्थान पर युक्तिसंगत तथा वेद के महत्ववर्धक अर्थों को किया है।

एक मन्त्र का अर्थ करते हुए सायण लिखते हैं। हे ऋभुओं! जो तुमने अपने सामर्थ्य से एक वर्ष तक मरी गाय की रक्षा की, एक वर्ष तक उसके मांस के टुकड़े करते रहे तथा एक वर्ष पर्यन्त उसमें चमक तथा अवयव शोभा बनाए रखी उसी मृतगाय को नई बनाने के कर्म से तुम देवत्व को प्राप्त हुए।

कोई भी पशु एक वर्ष तक उसी अवस्था में नहीं रहता। फिर माँस के टुकड़े वर्ष पर्यन्त करते रहना भी सम्भव नहीं है तथा न यह देवत्व प्राप्ति का मार्ग माना जा सकता है। महर्षि दयानन्द 'ऋभु' का अर्थ बुद्धिमान् पितृजन करते हैं तथा इस मन्त्र का सुसंगत अर्थ करते हुए लिखते हैं—जो बुद्धिमान् पितृजन प्राप्त बछड़े के समान सन्तानों को शिक्षा देते हैं, वाणी की रक्षा करते हैं और जो बुद्धिमान पितृजन आचार्यजन एक हुए और प्रेम से पाले गये संतान के सदृश माताओं को अवयवों के सहित करते हैं अर्थात् भरण-पोषण से उनके अंगों को पुष्ट करते हैं, जो मातृजन प्रकाशमान इस विद्या के एकीभाव को प्राप्त प्रेम से पालित सन्तान का धारण या पोषण करते हैं, वे बुद्धिमान् पितृजन और मातृजन उन माता-पिता आचार्य की सेवा और विद्या की प्राप्तियों और श्रेष्ठ कर्मों से मोक्षभाव या उत्तम आनन्द को प्राप्त होते हैं।[1]

सायणकृत अर्थ की आलोचना करते हुए गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं कि यह केवल गोमांस का ही प्रश्न नहीं है। इससे मृत्यु, पुनर्जन्म आदि कई सिद्धान्तों पर जो वैदिक धर्म में मान्य है पानी फिर जाता है।[2]

यजुर्वेद १·२८ में उवट और महीधर पृथिवी के देवयजन स्थल को देवासुर युद्ध के समय देवों द्वारा उठाकर चन्द्रमा में स्थापित करने की बात कहते हैं, जिसे वे चन्द्रमा का काला धब्बा बतलाते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द इस असम्भव गाथा का परिमार्जन करते हुए बतलाते हैं कि उस महान् गुणवान् परमेश्वर ने पृथिवी को चन्द्र लोक के समीप स्थापित किया है। महर्षि के इस अर्थ से पृथिवी के सर्वाधिक निकट चन्द्रमा का होना तथा परमेश्वर द्वारा इस व्यवस्था का करना सिद्ध है।

एक मन्त्र में 'त्र्यम्बकम्' का अर्थ महीधर तीन आँखों वाला देव करते हैं। यह सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। महर्षि दयानन्द इसका अर्थ 'तीनों कालों में एक रस रहने वाला परमेश्वर' करते हैं। यह लोक तथा वेद का मान्य सिद्धान्त है।

यह असम्भव अथ निवृत्ति उनके वेदभाष्य की पञ्चमी विशिष्टता है।

(च) इतिहास का निराकरण

महर्षि दयानन्द से पूर्ववर्ती वेदभाष्यकारों तथा उनका अन्धानुकरण करने वाले विद्वानों ने वेदमन्त्रों में इतिहास का उल्लेख किया है। वेदों में इतिहास मानने से वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने तथा उनकी प्राचीनता की मान्यता सिद्ध नहीं हो

---

१. ऋ०, ४·३३·४ का दयानन्द भाष्य पदार्थ।

२. सायण और दयानन्द, पृ० ६८ टिप्पणी।

सकती। क्योंकि इतिहास किसी व्यक्ति के जीवन के पश्चात् ही हुआ करता है। महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की यह विशिष्टता है कि उन्होंने अपने वेदभाष्य में उन मन्त्रों के विशुद्ध शिक्षापरक अर्थ किये हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] में सायण ने एक आख्यायिका प्रस्तुत की है। सरमा नाम की देवों की कुतिया थी। पणियों द्वारा देवों की गाय हरण कर लेने पर इन्द्र ने उन्हें खोजने के लिये सरमा को भेजा। जैसे शिकारी लोग वन में मृगों को खोजने के लिये कुत्ते भेजा करते हैं वैसे ही। वह सरमा बोली कि यदि मेरे बच्चे को आप गाय का दूध देवें तो मैं जा सकती हूँ। इन्द्र ने उसे स्वीकार कर लिया। विल्सन भी इसी प्रकार लिखते हैं—When the search was set on foot by Indra and the Angirasas, sharma secured food for her young; then Brihaspati slew the devourer and rescued the kine and the gods, with the cattle: proclaimed their joy alawed.

महर्षिदयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए बतलाया है कि हे मनुष्यों! जैसे विद्या धर्म को जानने वाली माता सन्तान के लिये अन्नादि प्राप्त करती है, राजा जैसे किरणों के विज्ञान से मेघ को विदीर्ण करता है, जैसे वह पृथिवी को प्राप्त करता है वैसे आप भी परमैश्वर्यवान् सभाध्यक्ष तथा विद्या, धर्म और राज्य प्राप्त करने वाले विद्वान् की इष्टसाधक नीति में विद्यादि सद्गुणों का पुनः-पुनः प्रकाश करते हुए समस्त जगत् से अविद्यादि दुष्ट गुणों को नष्ट करो। यहाँ मन्त्र में इतिहास का लेश भी नहीं है।

एक अन्य मन्त्र[2] की व्याख्या करते हुए सायण एक कथा का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार त्रसदस्यु राजा का वृश पुरोहित था। वह राजा के रथ को चला रहा था। रथ के पहिये के नीचे आकर खेलता हुआ एक ब्राह्मण बालक मर गया। राजा ने कहा कि यह पाप पुरोहित को लगेगा क्योंकि वह रथ चला रहा था। पुरोहित ने उस पाप का भागी राजा को बताया क्योंकि वह रथ का स्वामी था। दोनों निर्णय के लिये इक्ष्वाकु वंश के लोगों के पास गए, जिन्होंने पुरोहितों को दोषी ठहराया। वृश ने वार्श गान के द्वारा लड़के को जिला दिया। किन्तु निर्णय न्याय-विरुद्ध होने के कारण अग्नि से तेज जाता रहा और इक्ष्वाकु लोगों का भोजन भी न पक सका। तब उन्होंने प्रायश्चित किया। वृश को मनाया। वृश के वार्श गान के

---

१. इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ वदत् सरमा तनयाय धासिम्।
बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः समुस्रियाभिर्वावशन्त नरः॥ ऋ० १·६२·३

२. कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ॥ ऋ० ५·२·१
पर सायण-दयानन्द भाष्य।

फल स्वरूप ब्रह्महत्या ने राजा की भार्या के पेट से पिशाचरूप में उत्पन्न होकर कशिपु में उस तेज को रख दिया और ब्रह्महत्या छूटकर अग्नि से पुनःपूर्व वत् कार्य होने लगा।

महर्षि दयानन्द का भाष्य गाथा जाल-विमुक्त तथा इतिहास का उल्लेख न करके गृहस्थ का सुन्दर चित्रण उपस्थित करता है। उनके अनुसार पूर्णावस्था में विवाह करने वाली माता तुल्यता अर्थात् सब ओर एक जैसे जरायु से ढके कुमार को अपने गर्भाशय में धारण करती है तथा उस समय वह अकेली ही उस का लालन-पालन कर रही है तथा पिता को भी नहीं देती। वह गर्भस्थ बालक अपने पिता के समुदाय बल को नष्ट नहीं करता अपितु उसे बढ़ाता है। गर्भ के समय माता-पिता रमण नहीं करते अपितु पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हैं। विद्वान् लोग उस गर्भस्थ बालक को पहले ही देखते हैं। गर्भकाल में सबको ऐसा ही आचरण करना चाहिये।

भावार्थ में वे लिखते हैं—जो कुमार और कुमारी ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़कर और सन्तान को उत्पन्न करने की रीति को जान कर पूर्ण अवस्था अर्थात् विवाह करने के योग्य अवस्था होने पर स्वयम्वर विवाह नामक विवाह करके सन्तान को उत्पन्न करते हैं तो वे सदा आनन्दित होते हैं।

इसी प्रकार ऋ० ३.५३.२३–२४, ५.३३.१०, १.५४.६, १.१७४.६, १.५८.६, १.५१.६, १.५६.७, १.६०.५, १.६३.५३, १.७८.५, १.८०.१६, १.८४.१३, १.६०.६, १.१००.१७ में सायण का भाष्य किसी व्यक्ति की ओर संकेत करता है तथा महर्षि दयानन्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के स्थान पर व्याकरण, निघण्टु तथा धातुपाठ आदि के आधार पर उनके ऐसे अर्थ करते हैं जिनसे किसी व्यक्ति से सम्बद्ध इतिहास का पूर्ण निराकरण होकर वेद मन्त्र जीवनोत्थानयुक्त प्रेरणा प्रदान करते हैं।

यही प्रवृत्ति उवट-महीधर के यजुर्वेद १. १६, १. १३, ३. ५७, ५. २,१६.५, १६.७–८, १६.१०, १६.२१–२२, १३.१५, के मन्त्रों पर शब्दों के इतिहासपरक तथा महर्षि दयानन्द भाष्य में उन शब्दों के इतिहास रहित अर्थ देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'सरमा' का अर्थ 'विद्याधर्मबोध का ज्ञान, मरुतों का अर्थ प्रत्येक ऋतु में यज्ञ करने वाले विद्वान्, इन्द्र का अर्थ राजा सूर्य आदि, त्रसदस्यु-वृश की कथा के स्थान पर गृहस्थ-धर्म का वर्णन, विश्वामित्र-वशिष्ठ की कलह के स्थान पर राजधर्म का प्रकाश, लक्ष्मण्य आदि पदों का अथ सुलक्षणभव आदि, मधुजिह्व का अर्थ देवभृत्य न करके मधुर ज्वालायुक्तयज्ञ, इन्द्र वृत्र युद्ध के स्थान में सूर्य मेघ का वर्णन, रुद्र आदि का अर्थ स्तोता आदि, उर्वशी का अर्थ बहुत सुख प्रापिका यज्ञक्रिया तथा पुरूरवा का अर्थ बहुत शास्त्रोपदेश युक्त अध्ययनाध्यापन रूप यज्ञ किया है। यजुर्वेद के षोडश अध्याय में भी रुद्र पद राजा, सेनापति वैद्य आदि का वाचक बतलाया है। इस प्रकार उनके वेदभाष्य से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में इतिहास का लेश भी नहीं है।

वेद में इतिहास मानने में वेद की अन्त:साक्षी भी विपरीत पड़ती है। यथा—

(i) वैदिक तथा संस्कृत भाषा आदि में 'तरप्' तथा 'तमप्' प्रत्यय विशेषण-वाची शब्दों के साथ प्रयुक्त होकर दो या अनेकों में से किसी एक की विशिष्टता बतलाते हैं।[1] ये प्रत्यय व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु वेद में कुछ शब्द ऐसे आते हैं जो व्यक्तिवाचक जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु उनके साथ तरप् या तमप् प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। यथा—कण्वतम:[2], शिवतराय[3], शिवतम:[4] शिवतमाय[5] आदि। इन स्थलों में यदि यदि कण्व को मेधावी तथा शिव को कल्याणकारी माना जाये तब तो 'कण्वतम:' का अर्थ सर्वाधिक मेधावी तथा शिवतर: शिवतम: का अर्थअ पेक्षाकृत अधिक या सर्वाधिक कल्याण करने वाला, यह संगत अर्थ लग सकता है अन्यथा दोषयुक्त अर्थ करना पड़ेगा। 'कण्वतम:' का अर्थ सायण ने भी 'अतिशयेन मेधावी[6] तथा 'अतिशयेन स्तोता[7]' किया ही है। उवट-महीधर 'शिवतम:' का अर्थ 'शान्ततम:[8] तथा 'शिवतराय' का अर्थ 'शिव:शान्तो निर्विकार: शिवस्ततोऽप्यधिको निरतिशयसर्वज्ञबीज: एवं शिवो कल्याणरूपो निष्पाप: तस्मै। शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निष्पापान् करोति क्रमश: करते हैं।[9] इसी प्रसंग में अङ्गिरस्तम:[10] तथा इन्द्रतमा[11] पद देखे जा सकते हैं। सायण इनके अर्थ क्रमश: अङ्गन्ति गच्छन्तीति अङ्गिरसो गन्तार:। तेभ्योऽपि अङ्गिरस्तमोऽभूत् अतिशयेन गन्ता भवति' तथा 'सर्वस्येश्वरतमा' कहते हैं।

(ii) वेद में इतिहास मानने पर कुछ सम्बन्ध ऐसे मानने होंगे जो इतिहास विरुद्ध हैं। उदाहरणार्थ एक मन्त्र में अम्बिका को रुद्र की बहन[12] तथा एक मन्त्र में

---

१. द्विवचन विभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥ अष्टा० ५.३.५७, अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥ वही ५.३.५५

२. ऋ० १.४८.४, १०.११५.५।

३. यजु० १६.४१ ।

४. ११.५१. ३६.१५।

५. ऋ० ८.६६.१०

६. द्र० ऋ० १.४८.४ का सायण भाष्य।

७. ,, ,, १०.११५. ५ ,, ,, ,,।

८. ,, यजु० ११.५१ का उवट-महीधर।

९. ,, ,, १६.४१ ,, ,, ,,।

१०. सोऽङ्गिरोभिरङ्गिरस्तम: ॥ ऋ० १.१००.४।

११. अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी ॥ ऋ० ७.७६.३।

१२. एष ते रुद्र भाग: स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा ॥ यजु० ३. ५७।

अर्जुन को कृष्णा का पुत्र[1] बतलाया है। जबकि इतिहास अम्बिका (पार्वती) को रुद्र (शिव) की पत्नी तथा कृष्णा (द्रौपदी) को अर्जुन की पत्नी बतलाता है।

अत: वेदों में इतिहास की खोज करने वालों, यथा डा० निर्मला भार्गव (वैदिक साहित्य और संस्कृति-भृगु ऋषियों के योगदान के परिपार्श्व में), को महर्षि दयानन्द के ये वाक्य प्रकाशस्तम्भ का काम देंगे कि—"वेदों में किसी का इतिहास नहीं है, किन्तु जिस जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस उस का प्रयोग किया है। किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेद में नहीं।[2] अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यश्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेद-प्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।[3]

(छ) यौगिक अर्थ—

वेद के यौगिक अर्थ महर्षि दयानन्द की सातवीं विशिष्टता है। शब्द तीन प्रकार के माने गए हैं—यौगिक, योगरूढ़ि तथा रूढ़ि। वेद में सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ि ही हैं, ऐसी महर्षि दयानन्द की मान्यता है। वे 'नामिक' ग्रन्थ की भूमिका पृष्ठ २ पर अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हैं। महाभाष्य तथा निरुक्त के प्रणेता की भी ऐसी ही मान्यता हैं।[4] वेदों में रूढ़ि शब्द मानने पर उनमें आये अनेक शब्दों से कहीं इतिहास की प्रतीति होती हैं, कहीं असम्भव अर्थों को मानने पर विवश होना पड़ता है तथा कहीं वेद को अर्थगौरवह्रास की हानि उठानी पड़ती है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में 'बर्बर' आदि शब्दों को वायु आदि का वाचक मानकर वेद के गौरव की रक्षा की है। वेद भाष्य में भी उन्होंने अनेक यौगिक अर्थ करके अपनी इस प्रतिज्ञा को निबाहा है। यथा—वृत्र का अर्थ प्रतिकूलता से वर्तने वाला शत्रुकुल (ऋ० १.७५), गा: का अर्थ गतिमान् अश्व: (ऋ. १.८४.१३), अरि:—अरणशीलवायु: (ऋ.८.७२.१६), अर्य्याय—कर्मवते जनाय (७.५.६), जार:—सर्वेषां प्राणिनां जरयिता (७.६.१), महिषस्य—महत: (१ ९५.९), त्वष्टु:—दीप्तात् मध्यात् वायो सकाशात् (१.९५.२), सिंह:—सहनशीलं अभिभवशीलं तं अग्निम् (१०९५.५) तथा गोभि:—गन्त्रीभि: आदि।[5]

इस प्रकार अनेक स्थानों पर अपने वेद भाष्य में सायण ने भी यौगिक प्रक्रिया को अपना कर अनेक शब्दों के वेदवेदाङ्ग सम्मत अर्थ किये हैं। किन्तु अनेक

---

१. कृष्णाया: पुत्रो अर्जुन: ।। अथर्व, १३.३. २६।

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३०१।

३. ऋग्वेदादिभाष्याभूमिका-वेद संज्ञा विचार पृ० ९३।

४. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।। महाभाष्य ३. ३.१ पर आह्निक १

५. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।। निरुक्त १.१२

स्थलों पर उन्होंने यौगिक अर्थ को न अपना कर यदुम् (ऋ. १. ५४.६ तथा १.१७४.६) का अर्थ यदुनामान राजानम्, भृगवः (ऋ. १. ५८.६) एतत्सञ्ज्ञा महर्षयः, शम्बरम् (ऋ. १.५१.६) एतन्नामानं असुरम्, भरद्वाजेषु—(ऋ. १.५९.१) एतत्संज्ञकेषु, ऋषिषु, गोतमासः (ऋ. १.६०.५) गोतमगोत्रोत्पन्नाः, सुदासे (१.६३.५३) एतत्संज्ञाय राज्ञे, रहूगणाः (१.७८.५) रहूगणस्य पुत्राः, अथर्वा (१. ८०.१६) एतत्संज्ञकः ऋषिः, दधीचः (१.८४.१३) एतत्संज्ञकस्य ऋषेः, अम्बरीषः १.१००.१७) अम्बरीषादयश्चत्वारो महर्षयः आदि अर्थ किये हैं। किन्तु महर्षि के भाष्य में उन सब मन्त्रों के यौगिक अर्थ मिलते हैं। अन्यत्र भी शम्बर का अर्थ सुख ढकने वाले मेघ के समान शत्रु (ऋ. १.५१.६),इला—स्तुतियोग्य (७.२.८), पणीन्—व्यवहार करने योग्य (७.६.५), नहुषः (७.६.५) सत्य में बन्धे हुए. पुरुरवसे—बहुत शब्द वाला विद्वान् (१.३१.४)' नहुषस्य (१.३१.११) मनुष्य का, पराशरः (७.१८.२१) दुष्टों के हिंसक आदि अर्थ किये हैं। यजुर्वेद में भी उन्होंने इसी प्रकार के अर्थ किये हैं यथा—

भागम् (१.४) भजनीय शुभगुणभाजनं यज्ञम्, विष्णोः—व्यापकस्य (६.४), पवित्रे (१.१२) पवित्रकरण हेतू प्राणापानगती, इन्द्रसर्वविघ्नविदारक सकलैश्वर्ययुक्त समाट् (७.३५), यज्ञः—स्त्रीपुरुषाभ्यां संगमनीयः (गृहस्थः) ८.४, शिवेन (८.१४) कल्याणकारकेण, सोम (८.५०) विद्यैश्वर्य सहित, देवीः (११.६१) कमनीया, दिव्यविद्यासम्पन्नाः, दिव्य-गुणप्रदाः, वाजिनः (२१.१०) प्रशस्तविज्ञानयुक्ताः, छागम् (२१.४०) दुःखं छेत्तुमर्हम्, अविः (२३.१२) रक्षणादिकर्त्री पृथिवी, अरिष्टनेमिः (२५.१९) यो अरिष्टानि सुखानि प्रापयति सः, सरस्वती (२९.८) प्रशस्तविज्ञानवती वाक्, भृगवः (३३.६) परिपक्वज्ञानाः, अङ्गिराः (३४.१२) अङ्गानां रस इव वर्तमानो यद्वाङ्गिभ्यो जीवात्मभ्यः सुखं राति ददाति सः, वपाम्.(३५.२०) वपन्ति यस्यां भूमौ ताम्, बृहस्पतिः (३६.२) बृहतामाकादीनां पालक ईश्वरः, भीमः (३९.७) बिभेति यस्मात् स भयकरः तथा पात्रेण (४०.१७) रक्षकेण आदि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द द्वारा यौगिक अर्थों से वेद के अर्थों में सरलता तथा विस्तार आ जाता है तथा वे किसी उच्च शिक्षा के बोधक बन जाते हैं। वहाँ शम्बर, सुदास आदि शब्द असुर या राजाविशेष न बन कर 'सुख आवरक शत्रु तथा दान-शीलों का देश आदि अर्थ रखते हैं। पणि शब्द भी जाति विशेष का वाचक न होकर सब व्यवहार करने वालों का बोधक बन जाता है। विष्णु, इन्द्र, सोम, शिव, बृहस्पति, भृगु, अङ्गिरा आदि पद देवताविशेष या ऋषि विशेष के वाचक न होकर व्यापक, ऐश्वर्यशाली या शत्रुविदारक, ऐश्वर्यवान् कल्याणकारी, बड़ों का पालक, परिपक्वज्ञान वाला, अंगों में रस के समान वर्तमान या जीवात्मा को सुखप्रद आदि अर्थों के परिचायक बन जाते हैं। इससे वेदार्थ में एक क्रान्ति आ गई है तथा शिक्षा ग्रन्थ होने से उसका गौरव और अधिक बढ़ गया है। फिर विषूचिका[1] रोगविशेष न रह कर विविध अर्थ सूचिका रानी बन जाती है, इन्द्र

---

१. द्र० १९.१० का महर्षिभाष्य।

शत्रुविदारक सेनापति[1] तथा रुद्र दुष्टों तथा अन्यायकारियों को रुलाने वाला बन जाता है। यह उनके वेदभाष्य की सातवीं विशिष्टता है।[2]

ज. अयुक्त विनियोग से मुक्ति—

वेदों का अध्ययन करते हुए दो प्रकार के विनियोग सम्मुख आते हैं। एक वे जो वेदमन्त्रों के अर्थों का अनुसरण करते हैं। जैसे 'उद्बुध्यस्वाग्ने' मन्त्र को बोलते हुए अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। तथा दूसरे वे जो वेद मन्त्रार्थ से सर्वथा विपरीत होते हैं। जैसे 'स्वधिते मैनंहिंसी:[3] अर्थात् हे तलवार तू इस पशु को न मार, इस वाक्य को बोलकर पशु की त्वचा को काटना। यह विनियोग प्रक्रिया उस भावना का परिणाम है, जिसके अनुसार वेदों की रचना केवल यज्ञों के लिये ही मानी जाती है।[4] किन्तु महर्षि दयानन्द वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हैं,[5] अत: अन्य विद्याओं के साथ ही यज्ञ विद्या भी वेद में है। अथवा यदि विश्व के समस्त श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ की संज्ञा दी जाये तब यह कथन सार्थक हो सकता है। वेद केवल यज्ञों के लिये है, यह भ्रान्ति ब्राह्मण ग्रन्थों की याज्ञिक व्याख्या में हुई है। ऐतरेय शतपथ आदि ग्रन्थ इसी प्रक्रिया के द्योतक हैं। यद्यपि वे व्याख्या करते हुए ऐसे सूत्र भी अध्येता के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, जिनसे अर्थों में एक क्रान्ति आ जाती है। जैसे शतपथ अश्वमेधयाग की व्याख्या करते हुए राष्ट्र को ही अशवमेध बतलाता है।[6] जिसके अनुसार इस समस्त प्रकरण की व्याख्या राष्ट्रपरक होनी चाहिये। यजुर्वेद के भाष्यकारों के सम्मुख 'कात्यायन श्रौत सूत्र तथा शतपथ ब्राह्मण' भी यजुर्वेद की याज्ञिक व्याख्या ही प्रायश: प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यजुर्वेद में दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, निरूढ़ पशुबन्ध, वाजपेय, रासूय अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध आदि यज्ञों का ही उल्लेख है। इस प्रकार पूर्व से ही निर्धारित विषयों को सम्मुख रख कर जब वेद-मन्त्रों को देखा जायेगा तो यह अनिवार्य है कि उन्हें उसी प्रकार के अर्थ ढूंढ़ने होंगे।

महर्षि दयानन्द के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है कि उनका अनुकरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने अपनी मति के अनुसार मन्त्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर विधि में भी उनको विनियुक्त कर सकता है। प्राचीनों में भी सभी आचार्यों ने एक मन्त्र का विनियोग एक ही प्रकार से किया हो ऐसी बात नहीं है। एक ने किसी एक विधि में विनियोग किया

---

१. यजु १७.४६ ,, ,, ,,
२. यजु ३.५७—८ ,, ,,।
३. यजु० ६.१५
४. सायण-अथर्वभाष्य का उपोद्घात।
५. आर्यसमाज का तृतीय नियम।
६. राष्ट्रं वा अश्वमेध: ॥ शत० १३.१.६.३।

है तो दूसरे ने दूसरी विधि में ।[१] ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने एक मन्त्र का एक ही विनियोग किया हो, एक मन्त्र को अनेकत्र भी विनियुक्त किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि मन्त्र का पूर्वकृत विनियोगों से कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है । दुर्भाग्य से विनियोग को नित्य समझने के कारण मन्त्रार्थ संकुचित होकर रह गये हैं । उदाहरणार्थ यदि कहीं द्विवचन का प्रयोग देखकर ऊखल मूसल को लाने में मन्त्र का विनियोग कर दिया गया तो वह मन्त्र मन-बुद्धि, आत्मा-परमात्मा, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक आदिपरक अर्थों से अवरुद्ध कर दिया गया । किन्तु विनियोग को नित्य न मानने पर उन अर्थों को भी ग्रहण किया जा सकता है ।[२]

महर्षि दयानन्द युक्ति सिद्ध, वेदादि प्रमाणानुकूल, मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाले पूर्व विनियोगों को तो मान्यता देते हैं किन्तु मन्त्रार्थ विरुद्ध विनियोग उन्हें मान्य नहीं हैं ।[३] उनकी दृष्टि में वेदों में न केवल कर्मकाण्ड ही अपितु उनमें सब विद्याओं का समावेश है । वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं—यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदा; क्रियाकाण्डतत्परा सन्तीत्युक्तं तदन्यथास्ति । कुतः ? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात् ।[४]

इसी कारण महर्षि दयानन्द का भाष्य समाज के उन्नयन में सहायक तथा अनेक विद्याओं का आकर बन गया है जो पूर्व विनियोगों में बन्ध जाने पर इस प्रकार का कभी न बन पाता ।

यह भी विचारणीय है कि विनियोगानुसारी अर्थ करने पर मन्त्र पर बाह्य वस्तुओं को भी लादना पड़ता है । जैसे 'इषे त्वोर्जे त्वा' मन्त्र का अध्वर्यु द्वारा शमी या पलाश की शाखा काटने तथा उसे धूल झाड़ कर सीधा करने में विनियोग किया गया है । मन्त्र में न शाखा का उल्लेख है, न उसे काटने, सीधा करने या धूल झाड़ने का । यह विनियोगकार की कल्पना है । इससे स्पष्ट है कि इन विधियों का मूल मन्त्र से नित्य सम्बन्ध नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन विधियों के लिये ही वेदमन्त्रों की रचना की गई हो। पं० बुद्धदेव विद्यालंकार का यह कथन युक्ति-युक्त ही है कि विनियोग को सम्मुख रख कर मन्त्र का अर्थ करना ऐसा ही है

---

१. डा० कृष्ण लाल ।

२. डा० रामनाथ, स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि, गुरुकुल पत्रिका, अप्रैल १९७२, पृ० ३४३ ।

३. तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ।। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषयः

४. वही, भाष्य शंका समाधान विषयः ।

जैसे कि कपड़े के अनुसार शरीर को काटना।[१] गंगा प्रसाद उपाध्याय ने इसे गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतना कहा है।'[२]

महर्षि दयानन्द ने इन विनियोगों से स्वतन्त्र होकर अर्थ किया है। उनके अनुसार इस मन्त्रांश का अर्थ है—'हम अन्न, उत्तम इच्छा तथा पराक्रम तथा उत्तम रस की प्राप्ति के लिये जगदुत्पादक एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त तुझ भजनीय का सतत आश्रय लेते हैं।[३]

इसी अध्याय के षष्ठ मन्त्र के अनुसार अध्वर्यु पात्र में जल भर कर उसे आहवनीय के उत्तर में रखता हुआ कहता है। "हे पात्र। कौन तुझे आहवनीय के उत्तर भाग में स्थापित करता है? वह परमेश्वर ही तुझे स्थापित करता है, न कि मनुष्य। किस प्रयोजन के लिये तुझे प्रयुक्त करता है? उस प्रजापति की प्रीत्यर्थ ही तुझे प्रयुक्त करता है। तदनन्तर शूर्प तथा अग्निहोत्र हवणी को लेता है और कहता है—यज्ञकर्म के लिये तथा अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होने के लिये मैं तुम दोनों को ग्रहण करता हूँ।[४]

यहाँ भी मूलमन्त्र में न पात्र का वर्णन है न शूर्प या अग्निहोत्र हवणी का। अतः स्पष्ट है कि मन्त्र रचना केवल इन्हीं विधियों के उद्देश्य से नहीं हुई। अतः इस मन्त्र में महर्षि ने मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहा है कि—हे मनुष्य! कौन तुम क्रियानुष्ठाता को पुरुषार्थ में नियुक्त करता है? वह परमेश्वर तुझे विद्यादि शुभगुणों को ग्रहण करने के लिये विद्यार्थी वा विद्वान् होने के लिये नियुक्त करता है आदि। शूर्पादि के स्थान पर महर्षि दयानन्द कर्म करने कराने तथा विद्या पढ़ने पढ़ाने वालों का ग्रहण करते हैं। एक मन्त्र के भाष्य में विनियोगकार शूर्प तथा अग्निहोत्र-हवणी को तपा कर उसमें चिपटे राक्षस तथा शत्रु को दग्ध करते हैं जबकि वहां महर्षि समाज से राक्षस स्वभाव वालों को दूर करने का विधान करते हैं।[५] यही प्रवृत्ति समस्त यजुर्वेद में दृष्टिगत होती है। अतः अयुक्त विनियोग मुक्ति उनके वेदभाष्य की आठवीं विशिष्टता है।

---

१. द्र० वेदसम्मेलन अम्बाला छावनी में दिया अध्यक्षीय भाषण।

२. सायण और दयानन्द पृ० ६२

३. यजु १·१ का अन्वयार्थ

४. कस्त्वा युनक्ति सत्वायुनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ यजु० १·६ मन्त्र का उवट-महीधर-ग्रिफिथ भाष्य।

५. द्र० यजु० अन्य भी ६·७-२२। १६ वां अध्याय। ८·२८-३१ तथा २३, २२-२५ देखें, जहाँ बकरा मारने, रुद्र की स्तुति करने, गर्भिणी गाय को मारने तथा अश्व को मारने का उल्लेख विनियोगकारों ने किया है। महर्षिभाष्य में शिक्षा आदि का उल्लेख है।

(झ) जनजीवन से सम्बन्ध—

महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य की नवीं विशिष्टता यह है कि उन्होंने वेदों को केवल कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उनका जन-जीवन से सम्बन्ध दिखलाया है। यजुर्वेद के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय में वर्णित विषयों का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि यज्ञ, दुष्टनाश, राजधर्म, वर्ण, आश्रम के कर्तव्य कर्म, त्याज्य कर्मों का त्याग, करणीय कर्मों का करना तथा मानव एवं मानवेतर प्राणियों के साथ मानव का क्या व्यवहार होना चाहिये, वह सब हमें उनके वेदभाष्य में देखने को मिलता है।

(ञ) अन्य विशेषतायें—

(i) महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की एक विशिष्टता यह भी है कि वे किसी मन्त्र में एक से अधिक बार आए पद का यथासम्भव अर्थभेद कर देते हैं। यजु० २४·६ में तीन बार आए 'मरुद्भ्यः' पद का अर्थ "वायुवद् वर्तमानेभ्यो मनुष्येभ्यः प्राण इव प्रियेभ्यः तथा मनुष्येभ्यः" किया है। इसी प्रकार यजुर्वेद ३७·१३ में 'मधु' पद का तीन बार प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ भी उन्होंने 'कर्म, उपासनम् तथा विज्ञानम्' किया है।

(ii) उनके वेदभाष्य में ईश्वर के यथार्थ स्वरूप तथा उसके गुणकर्म स्वभाव आदि का एवं उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना का विशद तथा विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जब कि अन्य भाष्यों में प्रायः उसका अभाव है।

(iii) महर्षि के वेदभाष्य से वेद में आए अग्नि, इन्द्र, वरुण, मरुत् आदि अनेक देवों की पूजा की भ्रान्ति नहीं होती। इतर भाष्यों में जहाँ अग्नि, वायु से परमेश्वर-भिन्न उन उनके अभिमानी देवों का ग्रहण किया जाता था, वहाँ महर्षि दयानन्द के भाष्य में उपासना प्रकरण में उन शब्दों को परमेश्वर का ही गुणवाची नाम माना गया है।

(iv) वेद मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आदिभौतिक त्रिविध अर्थ की प्रक्रिया ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा निरुक्त आदि से सम्मत थी। तथापि भाष्यकारों ने अधिकतर आधिदैविक या कर्मकाण्डपरक अर्थ ही प्रदर्शित किये थे। किन्तु महर्षि दयानन्द ने तीनों प्रकार के अर्थ अपने वेदभाष्य में किये हैं। प्रत्येक मन्त्र में त्रिविध अर्थ सम्भव न होने पर कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिदैवत तथा कहीं अधिभूत अर्थों का उल्लेख कर दिया है। वे कहीं-कहीं एक मन्त्र के एक से अधिक अर्थ श्लेषालंकार या वाचक लुप्तोपमालंकार का आश्रय लेकर कर देते हैं। वाचक लुप्तोपमालंकार से वेद में अनेक चमत्कारी अर्थ भी उन्होंने किये हैं। यथा 'आपः' का अर्थ 'जलानीव शान्तिशीला विदुष्यः स्त्रियः तथा 'उषः' का अर्थ उषर्वद्वर्तमाने विदुषि आदि।

(v) महर्षिदयानन्द के वेदभाष्य में वैदिक देवों के स्वरूप पर भी उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से विचार मिलता है। वहाँ अग्नि पद भौतिक आग का ही वाचक न होकर ईश्वर, पार्थिव अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जाठराग्नि:, अग्रणी राजा, सेनापति, आत्मा आदि विविध अर्थों का बोधक है। इसी प्रकार, इन्द्र, अश्विनौ आदि देववाची पद भी विविध अर्थों के द्योतक हैं।

(vi) उनके वेदभाष्य की एक विशिष्टता मन्त्रार्थ भूमिका, मन्त्र, पदपाठ, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ, अन्वयानुसार हिन्दी पदार्थ तथा हिन्दी भावार्थ भी है। जिससे उनका वेदभाष्य विशिष्ट विद्वान् से लेकर जन सामान्य तक के लिये उपयोगी तथा पठनीय बन गया है।

(vii) प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस 'अध्याय का सारांश तथा पूर्व अध्यायों के साथ उस अध्याय का सम्बन्ध दिखाना' भी उनके वेदभाष्य की विशिष्टता है। इससे इस मान्यता का स्वतः खण्डन हो जाता है कि वेदमन्त्र भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गए हैं।

(viii) उनके वेदभाष्य में 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र का पूर्णतया यथार्थ उपयोग किया गया है। जिसमें निर्जीव वस्तुओं में न घटने वाले भावों को लिङ्ग, वचन तथा विभक्ति में व्यत्यय करके वेद के गौरव की रक्षा की गई है।

(ix) महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की एक अन्यतम विशिष्टता है कि वेदों का हिन्दी भाष्य। उनसे पूर्व किसी भी आचार्य ने वेदों का जनभाषा से सम्बन्ध नहीं जोड़ा था। संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् ही वेदों का अध्ययन कर सकते थे। जनसामान्य उससे वंचित था। महर्षि ने वेदों का हिन्दी भाष्य करके वेदों को जनसामान्य के लिये सुलभ किया। वेद तथा व्याकरण को हिन्दी में लाने वाले ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे।

(x) उनके वेदभाष्य की एक विशिष्टता है–देवता परिवर्तन। उन्होंने मन्त्र के अभिप्राय से विरुद्ध देवताओं के स्थान पर मन्त्राभिप्राययुक्त देवता को रखा है। साथ ही उन्होंने एक मन्त्र में अनेक देवता न मान कर एक देवता माना है। वह चाहे एक हो या अश्विनौ की भांति द्वन्द्व। अन्य भाष्यकारों ने अनेक मन्त्रों में एक से अधिक देवताओं की कल्पना की हुई थी।

इस प्रकार उनका वेदभाष्य अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इसमें चारों वर्ण, चारों आश्रम, राजा, प्रजा, राजपुरुष, गुरुशिष्य, पतिपत्नी, अध्यापक, 'उपदेशक, चिकित्सक, शिल्पी, न्यायाधीश, स्त्री के लिये स्त्री ही न्यायकर्त्री आदि का उल्लेख मिलता है।

उनके वेदभाष्य से वेदमन्त्रों में अध्यात्मविद्या, योगविद्या प्राणविद्या, भूगोल-विद्या, खगोल विद्या, शिल्प वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, नौ, विमान, यान, ज्योतिष,

राजनीति, युद्धविद्या, चिकित्सा, गान्धर्व एवं धनुर्विद्या आदि विविध ज्ञान-विज्ञान की बातें उपलब्ध होती हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक समाज ने विचार के महत्त्व को स्वीकारा है। भारतीय समाज ने वेद के आधार पर ही अपने समाज का निर्माण किया है। याज्ञिक प्रक्रिया समाजीकरण की दिशा की ही परिचायिका है। श्रौतयाग तो होते ही अनेक व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न।

वेद के अनेक भाष्यकार हुए हैं, जिन्होंने देश काल तथा परिस्थिति के वशीभूत होकर भाष्य किया है, जिनमें पूर्व आचार्यों द्वारा किया विनियोग भी एक कारण था। इसी कारण वे वेद के साथ पूर्ण न्याय न कर सके। महर्षि दयानन्द का वेद भाष्य वेद को ही उपाध्याय मानकर हुआ है, जिसके कारण उनका वेदभाष्य पुनरुक्त, हिंसा, अश्लीलता आदि दोषों से प्रायः अछूता है। "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे"[2] महर्षि कणाद की यह उक्ति उनके वेद भाष्य में सार्थक लगने लगती है। उनके वेदभाष्य को पढ़ कर वेदों को गड़रियों के गीत कहने वालों को भी वेद के गौरव को स्वीकार करना पड़ता है। उनके वेदभाष्य में व्यक्तिगत सामाजिक तथा राष्ट्रिय चेतना के दर्शन होते हैं। अतः योगिराज अरविन्द की यह उक्ति यथार्थ ही है कि अन्तिम वेदभाष्य चाहे कुछ हो किन्तु वेद की कुंजी खोलने वालों में दयानन्द का नाम सर्वप्रथम लिया जाएगा।

100988

१. द्र० डा० रामनाथ, स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि,
२. गुरुकुल पत्रिका, अप्रैल १९७२, पृ० ३४४

द्वितीय अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

(१) महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज के वर्ग

महर्षि दयानन्द एक मानव जाति को मानते हैं[1] तथा वेद के अनुसार[2] कार्य के आधार पर उसको चार वर्णों में विभक्त करते हैं। कोशकार वर्ण शब्द के अनेक अर्थ करते हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अर्थ मुख्य हैं। सेनार्ट का मत है कि वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में आर्यों तथा दासों में भेद करने के लिये है।[3] हट्टन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथ शूद्र इन चारों वर्णों के लिये क्रमश: श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण इन चार रंगों का सम्बन्ध मानता है।[4] डॉ० धुरिये भी इस मत से सहमत है।[5]

(२) ऋग्वेद में वर्ण पद का अर्थ

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर वर्ण पद आया है, जिसका अर्थ विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से किया है। यथा ऋ० ६·१००·४ में आए 'वर्णम्' के अर्थ 'आवरकं रसम् (सायण), form (विलसन) तथा 'तेरे वर्ण अर्थात् तेरे प्रति अपनी अभिलाषा या चाह (जयदेव विद्यालंकार) हैं। इसी प्रकार वर्ण शब्द का प्रयोग ऋ० १.१७९·६, २.१२·४, ३·३४·९, ९·७१·२ तथा १·२०४·२ में हुआ है। जिसका अर्थ शूद्रादिकम् (सायण), Tribe the eavern (विल्सन), वारयितारम् (माधव) देने योग्य वर्ण अर्थात् रूपवान् देह को अथवा प्रजा के नाशक वर्ण अर्थात् घातक पेशेवालों को (जयदेव विद्यालंकार), the non-Aryan colour (मेक्डानल)[6], the hostile colour (पीटर्सन), दातुं योग्य रूपम् (म० दयानन्द) आदि किये हैं। योगी अरविन्द वर्ण का अर्थ स्वभाव करते हुए लिखते हैं—वर्ण का अर्थ होगा स्वभाव अथवा वे सब जो उस विशेष स्वभाव वाले हैं।[8]

---

१. द्र० आर्योद्देश्यरत्नमाला।

२. ऋ० १०·९० तथा यजुर्वेद ३१।

३. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० ४६।

४. हट्टन, कास्ट इन इण्डिया, पृष्ठ ६४।

५. द्र०, सत्यमित्र दुबे, मनु की समाज व्यवस्था पृ० ६४।

६. Vedic reader, P. ४८।

७. Hymns from the Rigved, १९५०, पृ० ११७।

८. वेदरहस्य, प्रथमखण्ड, अनु० अभयदेव विद्यालंकर, १९४८।

इसी प्रकार त्रैवर्णिक, आवरक वल, दस्यु विरोधी, अनिष्टवारक तथा The obiator of evil, वरण करने योग्य, वारक, वरणीय अर्थ विभिन्न विद्वानों ने किये हैं। जहाँ इसका प्रयोग दास वर्ण के विरोध में हुआ है, वहाँ प्राय: वर्ण का अर्थ वर्णत्रय अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा दास का अर्थ शूद्रादि या non Aryan colour या Dark skin आदि किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् तो प्राय: सायण को आधार मानकर सर्वत्र 'वर्ण' के अर्थ में अन्य अर्थों के साथ वर्ण या जाति शब्द ही देखते हैं। इस प्रकार की दृष्टि में वर्ण शब्द 'वरण करने' के अर्थ का वाचक नहीं बनता। यास्क 'वर्णो वृणोतेः' कहते हैं तथा यूरोपीय विद्वान् वर्ण का अर्थ काला या गोरा रंग समझते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द ने उपर्युक्त स्थलों पर कहीं भी वर्ण का अर्थ ब्राह्मणादि नहीं किया है, ऋ० २·१२·४ में भी नहीं। उन्होंने वर्ण शब्द के अर्थ रूप, तेज, शुक्लादिगुण तथा स्वीकार योग्य आदि किये हैं।

यद्यपि यह बात ठीक है कि रंगवाची 'वर्ण' शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा पीछे के लेखों में जाति या श्रेणी के लिये प्रयुक्त हुआ है, तथापि इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत नहीं होता कि ऋग्वेद में भी इसका यही अर्थ है।[1]

निरुक्त 'वर्णो वृणोतेः' कहकर वर्ण का निर्वचन करता है। महर्षि दयानन्द इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं—जो गुणकर्म को देखकर यथायोग्यवरण किये जाते हैं वे वर्ण कहाते हैं।[2] स्वामी महेश्वरानन्द गिरि[3] तथा सत्यमित्र दूबे[4] की भी यही मान्यता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में वर्ण शब्द तप, बल, आवरक, तेज आदि अर्थों का भी द्योतक था। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों तथा स्मृतियों तक की यात्रा में यह वर्ण-चतुष्टय से सम्बन्धित हो गया था। जहाँ तक वर्णों के साथ रंग विशेष का सम्बन्ध है, यह बात युक्तिगुक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि चाणक्य काला होने पर भी ब्राह्मण था तथा शूद्र कहे जाने वाले लोगों में गोरे रंग के व्यक्ति मिल जायेंगे। प्राय: उष्णता प्रधान देशों के व्यक्ति अधिकतर कृष्णवर्ण के तथा शीतप्रधान देशों के गौरवर्ण के होते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही माता-पिता की सन्तानें काले तथा गोरे दोनों रंगों की देखी जाती हैं। अत: ब्राह्मणादि वर्णों के साथ रंगविशेष का सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, इसका कुछ सम्बन्ध प्रकृत्ति के सत्व, रजस् तथा तमस् गुण—क्रमश: शुक्ल रक्त तथा कृष्णवर्ण का प्रतीक माना गया हैं—के साथ यदि माना

---

१. निरञ्जन विद्यालंकार—भारतीय धर्मशास्त्रों में शूद्र की स्थिति पृ० २०–२३।
२. वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरोतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोगं व्रियन्ते ये ते वर्णाः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २६७।
३. चातुर्वर्ण्य भारतसमीक्षा, पृ० ५०।
४. मनु की समाजव्यवस्था, पृ० ४४–४५।

जाए तथा ब्राह्मण को शुक्लवर्ण के प्रतीक सत्वगुण प्रधान, क्षत्रिय को रक्त वर्ण के प्रतीक रजोगुण प्रधान, शूद्र को ज्ञान की न्यूनता के कारण कृष्णवर्ण के प्रतीक तमोगुण युक्त होने की कल्पना की जाए तथा वैश्य में सम्मिलित गुण माने जायें तब कदाचित् गुणों के साथ कुछ सामंजस्य स्थापित किया जा सके। किन्तु वर्ण विशेष के साथ रंग विशेष का सम्बन्ध व्यभिचार दोष से युक्त होने से मान्य नहीं हो सकता। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि पूर्वोक्त सत्वादि गुणों के कारण ब्राह्मणादि वर्ण निश्चित किये जा सकते हैं, न कि ब्राह्मणादि कुल विशेष में जन्ममात्र से सत्वादिगुण आने अवश्यम्भावी माने जा सकते हैं।

(३) वर्ण तथा जाति

वर्ण तथा जाति शब्द आजकल प्रायः समान अर्थ के बोधक प्रतीत होते हैं। क्योंकि वर्तमान काल में वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर है तथा जाति का प्रयोग सर्वत्र दृष्टिगत होता है। तथापि मूल रूप में इन शब्दों में अन्तर है। इनके विषय में आज भी मत विभिन्न हैं। जाति तथा वर्ण को एक मानने वालों का कथन है कि 'अल्पाच्तरम्' (अष्टा० २·२·३४) तथा 'जातिरप्राणिनाम्' (अष्टा० २·४·६) इत्यादि सूत्र, वार्तिक और महाभाष्य द्वारा पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि महर्षियों ने 'जाति' शब्द के अर्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यदि वर्ण और जाति शब्दों से एक ही प्रयोजन न होता तो महर्षि लोग ऐसा क्यों लिखते ?[१] कविरत्न अखिलानन्द शर्मा भी जाति शब्द से वर्णों का ग्रहण करते हैं।[२] होकार्ट भी दोनों में नाम मात्र का अन्तर मानता है।[३]

इसके विपरीत अन्य विद्वान् वर्ण तथा जाति को पृथक् मानते हैं। वे वर्ण का सम्बन्ध जीविका के साधन से तथा जाति का सम्बन्ध जन्म से मानते हैं। डॉ० मंगल देव शास्त्री इस विषय में कहते हैं कि 'हमें अभी तक वैदिक संहिताओं में वर्ण के अर्थ में जाति शब्द नही मिला।' इसकी टिप्पणी में वे लिखते हैं—यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ वर्ण शब्द का सम्बन्ध इस प्रसंग में स्पष्टतया पेशा या व्यवसाय से है (तु०[४] वर्णो वृणोतेः निरुक्त २·३), वहाँ जाति शब्द का सम्बन्ध स्पष्टतया जन्म से हैं (तु० "जननेन या जायते सा जातिः" महाभाष्य ५·३·५५)। दोनों शब्दों की मौलिक दृष्टियाँ भिन्न हैं (तु० "तपःश्रुताभ्यां यो हीनोः जातिः ब्राह्मण एव सः "महा० ५·३·५५), डॉ० पी० वी० काणे का कथन है कि "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति,

---

१. राजा फतह सिंह वर्मा (चन्द्र) पुवांयानरेश—वर्णव्यवस्था—ब्रह्मप्रेस इटावा, १९११, पृ० २–३

२. वैदिक वर्णव्यवस्था, पृ० १।

३. सत्यमित्र दुबे—मनु की समाजव्यवस्था, पृ० ४२।

४. भारतीय संस्कृति का विकास—भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण १९६४, पृ० २११।

चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है, कर्त्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किन्तु इसके विपरीत जाति व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है तथा बिना कर्त्तव्यों के आचरणों पर बल दिये केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है। वैदिक साहित्य में 'जाति' के आधुनिक अर्थ का प्रयोग नहीं हुआ है।[1] सत्यमित्र दुबे के अनुसार पाश्चात्य समाजशास्त्रियों ने इन दोनों की व्याख्या करते हुए भारतीय समाज की अप्रतिम देन के रूप में इन्हें स्वीकार किया है। लेकिन इनके वास्तविक अर्थ का विवेचन नहीं हो पाया और भ्रान्तियाँ बनी रही। आगे वे लिखते हैं 'हट्टन के अनुसार किसी भी स्थिति में आजकल का वर्ण जाति नहीं है।[2] स्वामी महेश्वरानन्द गिरि ने याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका (१·९०) के आधार पर कहा है कि जाति प्रत्यक्षगम्या होती है तथा ब्राह्मणादि वर्ण स्मृति से लक्षित हैं। जैसे गोत्व, उष्ट्रत्व, मनुष्यत्व आदि जातियाँ प्राकृतिक हैं तथा आकृति से ही पहचानी जाती हैं, वैसे ब्राह्मणत्वादि वर्ण निसर्ग से उत्पन्न तथा आकृति से नहीं जाने जाते। इसलिये ब्राह्मणत्वादि वर्ण तो ऐहिकाभ्युदय, कार्य व्यवहार, सौकर्य तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये पूर्व ही गुणकर्मानुसार प्राचीनकाल के सामाजिकों द्वारा कल्पित किये गये थे···।

वेद संहिताओं में जातिशब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता, किन्तु 'सजात्य' शब्द उपलब्ध होता है[3], जिसका ब्राह्मणत्वादि अर्थ सन्दिग्ध है। परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं वर्ण के अर्थ में जाति शब्द का प्रयोग मिलता है[4], जो कदाचित् व्यवसाय के आधार पर जन्म से ही जाति मानने के उपरान्त प्रचलित हुआ हो। महर्षि दयानन्द जहाँ वर्णों को चुनाव के आधार पर मानते हैं, वहाँ जाति को जन्म से मरणपर्यन्त बनी रहने वाली, ईश्वरकृत मनुष्यत्व आदि के रूप में स्वीकार करते हैं।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुछ विद्वान् वर्ण तथा जाति को अभिन्न मानते हैं तथा कुछ भिन्न। संहिताओं में वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला

---

१. डॉ० पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग २ पृ० ११९।

२. मनु की समाज व्यवस्था, पृ० ४२।

३. ऋ० २.१.५, ३·५४·१६, ८·१८·१९, ८·२०·२१, ८·२७·१०, ८·८३·७,-१०·६४·१३।

४· द्र० मनु २·१४८, ३.१५, ९·८६।

५. आर्योद्देश्यरत्नमाला संख्या ३८।

जाति शब्द नहीं मिलता। यह प्रवृत्ति परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं विकसित मिलती है। अतः वर्ण तथा जाति शब्द यद्यपि समानार्थक प्रतीत होते हैं किन्तु मूल रूप में इन दोनों में अन्तर है। 'जाति शब्द जहाँ' जनी प्रादुर्भावे' धातु से निष्पन्न होने से जन्म अथवा योनि विशेष से सम्बन्ध रखता है वहाँ 'वर्णपद' 'वृञ् वरणे' धातु से निष्पत्ति के कारण चुनाव के अर्थ को प्रकट करता है। जाति के निर्माण में व्यक्ति परतन्त्र होता है तथा वर्ण के चुनाव में वह स्वतन्त्र है। यह भी स्मर्तव्य है कि जाति मनुष्य के अतिरिक्त पशु पक्षियों में भी होती है, किन्तु वर्ण केवल मानव जाति में ही सम्भव है। अतः वर्ण तथा जाति शब्द मूलतः पृथक् हैं तथा प्राचीन साहित्य में इन्हें पृथक् ही माना है जब कि वर्तमान समय में वर्ण शब्द प्रायःचर्चा का विषय रह गया है तथा उसका स्थान पूर्णतया जाति ने ले लिया है। जनगणना या विद्यालय के प्रवेश आदि के सयय इसे स्पष्ट देखा जा सकता है।

(४) वर्णव्यवस्था का आधार—

इस विषय पर आज भी मतैक्य नहीं है कि वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म है अथवा गुण कर्म। जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले तर्क देते हैं कि 'अर्थ और काम में फसे लोगों को धर्म का ज्ञान कैसे हो सकता है जब तमोगुणी प्रकृति का लक्षण काम है जो शूद्र में है।[१] अच्छी प्रकृति न पाने तथा शास्त्र द्वारा वैदिक संस्कार की आज्ञा न होने से शूद्र को धर्म के ज्ञान की विधि नहीं आ सकती।[२] परशुराम तथा द्रोणाचार्य क्षत्र विद्या में निपुण होने तथा वैसा ही काम करने पर भी ब्राह्मण ही कहलाए और विश्वामित्र के तप करते हुए भी किसी ने शृंगी ऋषि की भांति उनसे यज्ञ नहीं कराया।[३] जैसे लोहा मंज कर चांदी जैसा हो जाता है, चांदी नहीं होता उसी तरह शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है पर ब्राह्मण नहीं होता।[४] जन्म से वर्ण मिलता है तथा तकमील अर्थात् पूर्णता गुणकर्म से होती है।···व्यक्ति इसी जन्म में गिर तो सकता है किन्तु वर्ण अगले जन्म में बदलता है।[५]

इनके अनुसार—(१) कोई शूद्र कितने ही उच्च कार्य करे किन्तु वह ब्राह्मण न होकर ब्राह्मणवत् हो सकता है। (२) उसे धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। (३) वह वैदिक संस्कार भी नहीं कर सकता। (४) वह अन्य वर्ण आगामी जन्म में प्राप्त कर सकता है, इस जन्म में नहीं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सब शूद्र अर्थ तथा काम में आसक्त नहीं माने जा सकते। जब वह ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है

---

१. महाशय राधाकृष्ण जी—वर्णव्यवस्था विचार, पृ० ४
२. द्र० वही पृ० ४
३. वही पृ० २१
४. वही पृ० ३२
५. वही पृ० ५९।

तब ब्राह्मण क्यों नहीं बन सकता ? गोत्व प्राप्त करने वाला पशु क्या गाय नहीं होता ? उपनिषदों में रैक्व को शूद्र होने पर भी धर्म के ज्ञान से युक्त बतलाया गया है। वेद ने शूद्र को कहाँ संस्कार करने का निषेध किया है ? मनु ने प्रातः तथा सायं सन्ध्या न करने वाले को सपरिवार जीते जी ही शूद्रत्व प्राप्त करने का जो विधान किया है, क्या वह इसी जन्म में वर्ण बदलने की पुष्टि नहीं करता ? वे जो लोहे तथा चांदी का दृष्टान्त देते हैं वह इसलिये युक्त नहीं है कि उन दोनों में धातुभेद है जबकि मानवशरीर में वह भेद उस प्रकार का नहीं है। जैसे अशुद्ध चाँदी अग्नि आदि के सम्पर्क से शुद्ध हो जाती है उसी प्रकार शूद्र को भी उत्तम गुणों का सम्पर्क शुद्ध क्यों नहीं बना सकता ?

वस्तुतः वर्ण का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वर्ण का आरम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने पर हुआ करता है। मानव धर्मशास्त्र के अनुसार उसी समय किसी व्यक्ति की रुचि का भी पता चला करता है कि यह किस पेशे से धन कमाने की रुचि रखता है। अर्थात् अध्यापन करके धन कमाना चाहता है या राज्यसम्बन्धी कार्य करके या अन्य व्यवसाय करके। उसी के अनुरूप उसका वर्ण हो जाता है। इसलिये इन वर्णों का जन्म से न कोई सम्बन्ध है और न हो सकता है।[1] महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं—यह गुण-कर्मों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष में और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये।[2] इससे स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था जन्म से न हो कर गुण-कर्म के अनुसार होती है। श्रीमद्भगवद्गीता भी गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्णों की रचना मानती है।[3] उनके कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों से विभक्त किये गए हैं।[4]

(५) वर्णव्यस्था का आधार और महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वर्णव्यवस्था को जन्म से स्वीकार न करके गुण कर्म के आधार पर माना है, यथा—

(१) वर्णाश्रम गुणकर्मों की योग्यता से मानता हूँ।[5]

(२) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुणकर्मों से किये गए हैं। (वृणो०) इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जिसके जैसे गुणकर्म हों, वैसा ही उनको अधिकार देना चाहिये।[6]

---

१. नारायण स्वामी—वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप—भूमिका पृ० घ से ङ
२. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास पृ० १३०
३. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।।गीता ४·१३
४. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः ।।वही १८·४१
५. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६२३
६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वर्णाश्रम विषय, पृ० २६८

(३) (प्रश्न) विवाह अपने वर्ण में होना चाहिये या अन्य वर्ण में भी ?

(उत्तर) अपने-अपने वर्ण में होना चाहिये, परन्तु वर्ण व्यवस्था गुणकर्मों के आधार पर होनी चाहिये जन्म मात्र से नहीं।[1]

(४) वर्ण, जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द गुण कर्मानुसार वर्ण को मान्यता देते हैं। ब्राह्मणपुत्र के इस निर्लेप व्यवहार को जितना प्रशंसनीय कहा जाए थोड़ा है।

गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के लाभ—

महर्षि दयानन्द ने गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के लाभों का उल्लेख करते हुए लिखा है—'इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते [हैं]। और उत्तम वर्ण इस भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़, उत्तम कर्मों को ही किया करते हैं। इससे संसार की बड़ी उन्नति है।[3] इन गुण कर्मों के योग से ही चारों वर्ण होवें तो उस कुल और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे। और जिसका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुणकर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है। इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुणकर्म स्वभाव युक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण कुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं अर्थात् वर्ण संकरता प्राप्त न होगी। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी नहीं होगी।[4]

अतः महर्षि के अनुसार गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था से पक्षपात निवृत्ति, उत्तम बनने में प्रयत्न करना, संसार की उन्नति, वर्णों की शुद्धता तथा निन्दा एवं अयोग्यता का अभाव ये लाभ हैं।

रजवीर्य के योग से वर्ण व्यवस्था मानने पर आक्षेप—

महर्षि दयानन्द का यह स्पष्ट मत है कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं होनी चाहिये। यदि पिता के अनुरूप ही पुत्र के गुण कर्म स्वभाव हों तो यह बात विशेष महत्त्व की है। किन्तु यदि यह अनुरूपता न हो तो तथा केवल जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानें तो वे इस पर आक्षेप करते हुए लिखते हैं—जो रजवीर्य

---

१. संस्कारविधि, विवाह प्रकरण, पृ० १५१
२. आर्य्योद्देश्य रत्नमाला, संख्या ४३
३. सं० वि० विवाह प्रकरण पृ० १५२
४. वहीं, गृहाश्रम प्रकरण पृ० २५३
५. सत्यार्थ प्रकाश, समु० ४, पृ० १३०

के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने, और गुणकर्मों के योग से न माने तो उनसे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच अन्त्यज अथवा कृश्चीन मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि, और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुणकर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ हो के नीच काम करे तो उसको नीचवर्ण में गिनना चाहिये।[1]

महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेद भाष्य में वर्ण सम्बन्धी शब्दार्थ—

महर्षि के यजुर्वेद भाष्य के अवलोकन से यह भी स्पष्ट है कि उनके वर्ण सम्बन्धी शब्दों के अधिकतर अर्थ गुण कर्म से सम्बद्ध हैं, किन्तु एकाध अर्थ से पैत्रिक गुणों की ओर भी संकेत मिलता है। यह अर्थ कदाचित् उस अवस्था का द्योतक है जिसमें पिता के अनुरूप पुत्र के गुण कर्म स्वभाव हों, जो कि बहुत सम्भव हैं।

ब्राह्मणवर्ण से सम्बद्ध शब्द तथा उनके अर्थ—

(१) ब्रह्मवनि—ब्राह्मणं विद्वांसं वनति तम् (१.१७), वेदं वनयनि तम् (१·१८), सर्वमनुष्यार्थं ब्रह्मणो वेदस्य विभाजितारम् (१·१८), यथाबलविद्यासंभजितारं तथा (५·२७) ब्रह्मणो वेतॄणां संविभक्तारम् (६·३)

(२) ब्रह्म—वेदो जगदीश्वरो ब्रह्मवित्कुलं वा (१०·१०, १४·२४, १६·५) ब्रह्मवित्कुलम् (१४·२४,१८·३७, १६·५) विद्वत्कुलम् (१८·३६), अध्यापककुलम् (१८·४१), ब्राह्मणं विद्वांसम् (१८·४२), ब्राह्मणकुलमर्याद्विद्वत्कुलम् (२०·२५), विद्याविद्वांसम्। इसी प्रकार वेदेश्वरवित् (२२·२२ ३१·११); वेदोपवेदवित् (१२·६६), चतुर्वेदवित् (१७·६०, १८·२६, १८·२६, १८·७६, २२·३३, २३·१३,२३·६२), ब्रह्मोपासकम् (३१·२१) आदि अर्थ हैं।

क्षत्रियवर्ण से सम्बन्धित शब्दों के अर्थ—

इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण से सम्बद्ध क्षत्र, राजन्य, क्षत्रिय आदि शब्दों का अर्थ उन्होंने यजुर्वेदभाष्य में राजधर्म के प्रकाश करने हारे (१·१८), न्याय करने वाले (१६·५,७५) क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स क्षतस्तस्मात् त्रायते रक्षतीति क्षत्रः क्षत्रियादिवीरः (५·२७), राज्यं धनुर्वेदविदम् (६·२), क्षत्रियधर्मरक्षकं कुलम् (१०·११), शूरवीरकुलम् (१८·३६), दुष्टनाशकं कुलम् (१८·४०), विद्यावर्धकं राजकुलम् (१८·४१), विद्याशौर्यादिगुणोपेतम्, (२०·२५) राज्यपालक (१०·१७) आदि अर्थ हैं।

वैश्यवर्ण से सम्बद्ध शब्द तथा उनके अर्थ—

यजुर्वेद में विट्, वैश्य, अर्य तथा विश्य शब्द आये हैं, जिनका अर्थ महर्षि-

---

१. वही, पृ० १२७

दयानन्द ने वणिग्जनः (१०·१२) यो यत्र तत्र [व्यापाराय] विशति प्रविशति, (३१·११), धनस्वामी (२०·१७), विक्षु प्रजासु भवेषु वणिग्जनेषु (१८·४८) आदि किया है।

शूद्र शब्द का अर्थ—

शूद्र का अर्थ उन्होंने यजुर्वेद भाष्य में मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः (३१·११) प्रीत्या सेवकं शुद्धिकरम् (३०·५), सेवकेषु (१८·४८) तथा मूर्खकुलोत्पन्नः (२३·३१) आदि किया है।

इससे स्पष्ट है कि उनके वेदभाष्य में आए वर्णवाचकशब्द प्रायः गुणों की ओर ही संकेत करते हैं तथा इस बात के सूचक हैं कि वे गुण जिन व्यक्तियों में हों, वे उसी वर्ण से सम्बद्ध माने जाएं। जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था समाज के लिये हानिकर है। बस, रेल, वायुयान आदि के चालक के पुत्र को प्रशिक्षण दिये बिना यानचालक बनाना यात्रियों के जीवन से खेलना होगा। वेदपाठी के बालक को वेद पढ़ना होगा, राज्य सञ्चालक के पुत्र को राज्यसंचालन सीखना होगा। इसी प्रकार व्यापार तथा अन्य व्यवसाय को उसके जानने वाले ही उपयुक्त रीति से कर सकेंगे। यही अवस्था वर्ण के कार्यों की है। उनको भी उन कार्यों में रुचि रखने वाले तथा उन कार्यों का प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही कर सकेंगे, अन्य नहीं। अतः वर्ण-व्यवस्था का आधार गुणकर्म ही मानना उपयुक्त है केवल जन्ममात्र नहीं।

वर्ग के महत्त्व का आधार

वर्गभेद के महत्त्व के आधार के विषय में भी समाजशास्त्रियों में मतभेद है। एन्जेल्स (Engels) तथा कार्लमार्क्स के अनुसार सामाजिक महत्त्व आर्थिक तत्त्वों पर आधारित है। १८४८ के (Communist Manifesto) तथा (Capital) नामक ग्रन्थ में मार्क्स ने बड़े विस्तार से यह सिद्ध किया कि सामाजिक श्रेणियों का निर्माण सम्पत्ति के आधार पर होता है। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व समाज में जमींदार तथा कृषक ये दो वर्ग थे जो भूमिरूपी सम्पत्ति के आधार पर थे। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् भूमि का महत्त्व पूंजी ने ले लिया तथा उसी के आधार पर मिल मालिक पूंजीपति तथा प्रोलेटरियट या सर्वहारा दरिद्र श्रमिकों के वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ। अतः मार्क्स का मत है कि धन मनुष्य की स्थिति का निश्चय कराता है तथा सामाजिक वर्ग तथा उनकी महत्ता का वही मूलाधार है। किन्तु MacIver तथा Page ने Marx की उपर्युक्त धारणा का खण्डन करते हुए कहा है कि वर्ग केवल आर्थिक भेद पर ही आश्रित नहीं है। ये वस्तुतः सामाजिक स्थिति (Status) पर आधारित हैं। धन के साथ इसके अन्य कारण भी हैं। मैकाइवर ने हिन्दू समाज का उदाहरण दिया है, जिसमें सम्पत्तिशाली वैश्य को तीसरा दर्जा दिया गया है तथा तपस्वी धनरहित ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।[1]

१. हरदत्त एम० ए० समाजशास्त्र प्रवेशिका, पृ० ६२-६३

धन के आधार पर ही समाज में उच्च या निम्न स्थान इसलिये भी युक्त नहीं है कि सन्तों तथा महापुरुषों ने प्राय: धन को महत्त्व नहीं दिया, फिर भी वे सबके पूज्य हैं। कबीर या रैदास आदि को जन्म अथवा धन के आधार पर महत्व नहीं दिया गया, अपितु उत्तम गुणों तथा शुभ कर्मों से उन्हें महत्त्व मिला।

वैदिक धर्म के अनुसार अज्ञान, अन्याय, अभाव तथा असहयोग मानव के क्रमश: बड़े शत्रु हैं। इन्हें शिक्षक रक्षक पोषक तथा सेवक बन कर मिटाने वाले भी क्रमश: उच्चतम, उच्चतर, उच्च तथा सामान्य माने जाते हैं। इसी व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं तथा उसी क्रम से ये चारों आदर के पात्र माने जाते हैं।

(७) वर्णों का पारस्परिक प्रेम

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्० मन्त्र में समाज के चार वर्ग करके मुख, बाहु, ऊरू तथा पैरों के गुण क्रमों के अनुसार उनका चयन गुण कर्मों के आधार पर बतलाया गया है, जन्म मात्र पर नहीं। चारों वर्णों के कार्य यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं किन्तु वेद का आदेश है कि भिन्न कार्य करते हुए भी परस्पर प्रेम से रहना चाहिए। एक ऋचा में कहा गया है कि—मैं शिल्पी हूँ, पिताजी वैद्य तथा माता पत्थर का कार्य करने वाली, फिर भी भिन्न ज्ञान कर्म रखते हुए भी हम घर में ऐसे प्रेमपूर्वक रहते हैं जैसे एक बाड़े में गाएं।[1] गायों के अनेक रंग रूप होते हैं तथा विभिन्न आयु, किन्तु वह रंग-रूप तथा आयु उनके प्रेम में बाधक नहीं बनते। इसी प्रकार अनेक वर्णाश्रम धर्मवाले तथा नाना प्रकार की वाणी वाले लोग इस पृथिवी पर ऐसे रहते हैं जैसे घर में बड़े छोटे तथा शुद्ध एवं तोतली बोली वाले मिलकर प्रेमपूर्वक रहते हैं।[2]

(८) वर्ण परिवर्तन

इस पारस्परिक प्रेम के कारण ही वर्ण व्यवस्था का सम्बन्ध ऊंच-नीच की भावना से दूर था। कोई भी व्यक्ति अपनी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार कोई भी वर्ण चुन सकता था। डा० मंगल देव शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि—अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्णव्यवस्था में काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असम्भव नहीं था। इसकी टिप्पणी में वे लिखते हैं—इतिहास-पुराण में सैकड़ों उदाहरण वर्ण परिवर्तन के मिलते हैं। गोत्रों तक ने अपना वर्ण बदल डाला। इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण (४.१९.५–७) तथा (४.१९.२२–३२), भागवत (९.२.२१), महाभारत आदि पर्व (१३७.१४), हरिवंश पुराण (११.६५९), महा-

---

१. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणीनना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥ ऋ. ९. ११२. ३

२. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसंनानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्॥ अथर्व० १२. १. ४५

भारत वन पर्व (२१२.११–१२), शल्यपर्व (४.१.११), अनुशासन पर्व (३०.५७–६६) आदि देखिये।[१]

गीता में भी चारों वर्णों की गुण कर्म स्वभावानुसार रचना का उल्लेख है।[२] यही कारण है कि आर्य संस्कृति का रथ सदा आगे ही बढ़ा है। इसमें प्रगति का अभाव तभी आया जब यह जन्म के आधार पर रुक गया। दुवे का मत है कि कुछ लोगों का कथन है कि हिन्दू वर्ण व्यवस्था की रचना में गतिशीलता का अभाव है। ध्यानपूर्वक देखने पर यह कथन स्पष्टतः निर्मूल सिद्ध होता है। हिन्दू व्यवस्थापक सर्वदा मनुष्य को उच्चतर ध्येय की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करते हैं। अपने कर्मों की उच्चता के बल पर एक शूद्र भी ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है। अनुचित कृत्यों के कारण एक ब्राह्मण अपने स्तर तथा प्रतिष्ठा को खो सकता है।[३]

डा० देवराज ने इस विषय में लिखा है 'सिर्फ ब्राह्मण के घर में पैदा हो जाने से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो जाता। वर्ण के निर्णय में जन्म की अपेक्षा कर्म ही प्रधान है। ये विचार स्वयं युधिष्ठिर द्वारा व्यक्त किये गये हैं। सर्प रूप-धारी नहुष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने जाति के, विशेषतः ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़े क्रान्तिकारी हैं। वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति में सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया ये गुण पाये जायें, वही ब्राह्मण है। नहुष के यह कहने पर कि ये गुण शूद्र में भी पाये जा सकते हैं, युधिष्ठिर ने कहा कि यदि शूद्र में वैसे गुण पाये जायें तो वह शूद्र नहीं, और यदि ब्राह्मण में न पायें तो वह ब्राह्मण नहीं।[४]

ज्ञानचन्द्र आर्य इस विषय के समर्थन में लिखते हैं—मत्स्य पुराण अ० ४ में लिखा है कि मनु के पुत्र वामदेव के पुत्र ब्राह्माण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हुए। इत्यादि ऐतिहासिक प्रमाणों से भी भली-भाँति विदित है कि पूर्वकाल में ब्राह्मणादि वर्णों के वंश भिन्न-भिन्न नहीं होते थे अपितु ब्राह्मणों क्षत्रियों आदि की सन्तान चारों वर्णों की होती थी। अर्थात् एक पिता के पुत्र होते हुए भिन्न-भिन्न वर्णों (पेशों) का काम करते थे।[५] बौधायन की मान्यता है कि यज्ञ न करने, शास्त्रानुसार विवाह न होने, वेदा-

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० २१०

२. क. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।। ४. १३

ख. ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। १८. ४१

३. मनु की समाज व्यवस्था, पृ० ४७।

४. भारतीय संस्कृति—डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट् पृ० ६३–६४।

५. वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप, पृ० ७।

ध्ययन की उपेक्षा या त्याग करने तथा ब्राह्मणों की धार्मिक बातें न मानने से उच्च कुल भी निकृष्ट हो जाते हैं।[1] यदि वर्ण व्यवस्था जन्म से मानी जाए तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। गौतम का कथन है कि द्विज तथा शूद्रों के कर्मों में उलट फेर हो जाने पर वे सभी समान हो जाते हैं।[2] मनु वेद न पढ़कर अन्यत्र अध्ययन करने वाले ब्राह्मणों को जीते जी परिवार सहित शूद्रत्व को प्राप्त होने का विधान करता है।[3]

हरदत्त एम० ए० लिखते हैं कि वर्ग व्यवस्था में जन्म का विशेष महत्व नहीं होता। व्यक्ति अपने गुणों से हीन समझे जाने वाले वर्ग में उत्पन्न होकर भी अपने वैयक्तिक पुरुषार्थ से ऊंचे दर्जे में प्रवेश कर सकता है।[4]

डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार जाति या वर्ग तो समाज के व्यावहारिक जीवन के अनुसार बनते हैं, किन्तु वर्ण तो सर्वदेशीय और सर्वकालिक होते हैं। संस्कार और स्वभाव ही इनका आधार है। इन्हीं गुणों के कारण बने हुए ये चारों वर्ण धर्म के शाश्वत नियमों के अन्तर्गत आ जाते हैं।[5] आगे वे 'वर्ण व्यवस्था का सही आधार' नामक शीर्षक में लिखते हैं—"जहाँ व्यवसाय और संस्कार के आधार पर वर्णों की रचना न होकर जाति, रंग या धन के आधार होती है वहाँ न्याय की मर्यादा नष्ट हो जाती है और अन्याय का बोलबाला हो जाता है। बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय सिद्धान्त को समझने में गलती की है। उन्होंने वर्णों की हमारी शास्त्र सम्मत दार्शनिक धारणा के विरुद्ध व्यावहारिक जीवन की उत्तराधिकार, जाति और रंग के आधार पर बनी समाज व्यवस्था को ही सब कुछ समझ लिया है। महाभारत में लिखा है कि वर्ण जन्म द्वारा नहीं, कर्म द्वारा निश्चित होते हैं। साथ ही यह भी कहा है कि "पहले सारे संसार में एक ही वर्ण था, फिर गुण स्वभाव और कर्त्तव्य के भेद बताने के पश्चात् महाभारत में आगे यह भी कहा गया है कि यथोचित गुण नहीं है तो ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहता, क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं रहता आदि।" इसी प्रकार 'भगवद्गीता' ने भी यही बात कही है कि विभिन्न वर्णों के विभिन्न व्यवसायों का कारण उनके स्वभाव और संस्कार हैं।[6]

---

१. बौधायन धर्म सूत्र २.१.६६, १०.५.१०.२७।
२. गौतम धर्म सूत्र। २.१.६६।
३. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु २.१६८।
४. समाजशास्त्र प्रवेशिका, पृ०।
५. भारतीय समाज विन्यास, पृ० ३१।
६. भारतीय समाज विन्यास, पृ० ३३।
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्। ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत्॥ महाभारत।

डा० रामजी उपाध्याय ने इस प्रश्न को उठा कर कि क्या उस (वैदिक) युग में ब्राह्मण का पुत्र जन्मना ब्राह्मण ही होता था, उत्तर देते हुए लिखा है कि "यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिये वातावरण के प्रभाव से ब्राह्मण बनने की विशेष सम्भावना थी, साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि आवश्यकता पड़ने पर ब्रह्माण का क्षत्रिय या क्षत्रिय का ब्राह्मण होना उस प्राचीन युग में साधारण बात थी और एक ही मनुष्य के चार लड़कों में से कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र हो सकता था।[१] आगे उन्होंने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें वर्ण-परिवर्तन से सम्बन्धित व्यक्ति तथा परिवार के नाम दिये गये हैं।

(६) गुण कर्म से वर्ण व्यवस्था पर गौतम बुद्ध के विचार

गौतम बुद्ध भी जन्मना जाति-पाँति के विरुद्ध थे। बौद्धमत के सर्वत्र प्रसारण में उनकी इस मान्यता का भी बहुत योगदान है। दलित एवं उपेक्षित समाज के लिये उनका यह विचार सुधा-वृष्टि जैसा था। इस विषय में उनके विचार उल्लेखनीय हैं—

१. जाति मत पूछ, तू तो बस एक आचरण पूछ। नीच कुल का मनुष्य भी धृतिमान्, सुविज्ञ और निष्पाप मुनि होता है।[२]

२. जो मनुष्य गाय चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। व्यापार करने वाला व्यापारी तथा शिल्प का कार्य करने वाला शिल्पी कहलाएगा, ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य दूसरों की परिचर्या करके अपनी जीविका चलाता है, वह परिचर है, ब्राह्मण नहीं। अपने कर्म से कोई व्यक्ति ब्राह्मण है और दूसरा अब्राह्मण।[३]

३. कोई भी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण के पिता से क्यों न उत्पन्न हो, पाप से विरत तथा रागद्वेष की भावना से मुक्त हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में केवल जन्म से जाति हो ही नहीं सकती।[४]

४. यवन तथा काम्बोज तथा दूसरे सीमान्त प्रदेशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। मनुष्य वहाँ भी आर्य से दास हो सकता है तथा दास से आर्य। इसका तो कोई अर्थ नहीं कि कोई वर्ण जन्मना श्रेष्ठ है।[५]

---

१. प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, पृ० ५।

२. बुद्धचर्या—अत्तदीप सुत्त।

३. न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणः।
कम्मना वसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणो॥ मज्झिम निकाय—वासट्ट सुत्तंत॥

४. वही—अस्सलायण सुत्तंत॥

५. वही—अस्सलायण सुत्तंत॥

५. मूर्खों की धारणा में यह चिर काल से घुसा हुआ है कि ब्राह्मण जन्म से होता है। ज्ञानी पुरुष यह कभी नहीं कहेंगे कि ब्राह्मण जन्म से होता है। किसी माता से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी मनुष्य को ब्राह्मण नहीं कहता।[1]

ब्रह्मणोचित गुणों से रहित ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति को महाभाष्य ब्राह्मण न कहकर 'जातिब्राह्मण' अर्थात् जन्ममात्र का ब्राह्मण मानता है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जन्म के आधार पर वर्णों का चुनाव न तो सब आचार्यों से सम्मत है तथा न उपयुक्त। यदि कोई किसी वर्ण में उत्पन्न भी हो तथा उसी के अनुरूप उसके गुणधर्म हों तो उसे उस वर्ण में मानने में किसी को आपत्ति नहीं है अपितु अति विशेष है। किन्तु वर्ण से विपरीत गुण कर्म होने पर भी उसी वर्ण में मानना न युक्तियुक्त है तथा न उचित। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थों में ऐसा ही प्रतिपादन किया है। जन्म से ही वर्ण मानने वालों को यह भी विचार करना चाहिये कि यदि जन्म से ही वर्ण निश्चित मान लिया जाए तो ब्राह्मण के बालक का प्रायः १६ वर्ष तक, क्षत्रिय बालक का २२वें वर्ष तक तथा वैश्य बालक का २४वें वर्ष तक उपनयन न होने पर उन्हें व्रात्य या सावित्री पतित क्यों माना जाता[3] तथा उनसे विवाह आदि सम्बन्ध क्यों न रखा जाता, जबकि वे ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न हुए हैं। ऋग्वेद ३·४३·५ से भी ऐसे संकेत मिलते हैं कि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार किसी भी वर्ण को अपना सकता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक व्यक्ति कर्मों के कारण वर्ण से उत्कर्ष या अपकर्ष को प्राप्त हो गये हैं।[4]

इसका एक कारण यह भी है कि प्रारम्भ में वर्णों का सम्बन्ध केवल आजीविका अर्जन करने के प्रकार पर निर्भर था। उसमें ऊँच-नीच की भावना, घृणा या पार्थक्य की भावना नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता के आधार पर आचार्यों से वर्ण प्राप्त करता था तथा उसका यह दुराग्रह नहीं होता था कि मेरी सन्तान चाहे योग्य हो अथवा अयोग्य, मेरे ही वर्ण की होगी। वर्ण का यह उत्थानक क्रम आगे चलकर एक ऐसी लौह शृंखला बन गया जिसे तोड़ना

---

१. —मज्झिम निकाय। वासेट्ठ सुत्तंत।

२. तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव च॥ महाभाष्य २·२·६।

३. क—मनु० २·३८–४०। याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय १·३७–३८।
 ख—गौतम धर्मरत्न, प्रश्न १, अ० १, सूत्र १३–१४। आपस्तम्ब० प्र० १ कं १,२७।
 ग—गृह्यसूत्र—आश्वलायन १·१९·५–७। गोभिल २·१०·५–६। वाराह ५·७–८। लोगाक्षि ४१·४। खादिर तथा द्राह्यायण पटल २ खण्ड ४ सूत्र १–६ आदि।

४· द्र० मेरा शोध प्रबन्ध अध्याय २।

कठिन हो गया। किन्तु प्रारम्भ में यह लचीला, परिवर्तनीय तथा प्रेमपूर्वक अपने योग्य कार्य चुनने का साधन था। मन्मथनाथ गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि हम फिर एक बार इस बात को बहुत स्पष्टता के साथ कह दें कि जिस अर्थ में बाद को वर्ण-भेद लेते हैं, उस अर्थ में अर्थात् रोटी और बेटी के अर्थ में वैदिक काल के आर्यों के दो ही वर्ण थे, एक आर्य, दूसरा अनार्य। हाँ लोग अपना-अपना काम करते थे, और उसके अनुसार ब्राह्मण राजन्य और विश या वैश्यक कहलाते थे। इनमें परस्पर रोटी बेटी का कोई निषेध नहीं था, जो बाद में चलकर जातिभेद का मुख्य अंग हो गया।[१]

इतना ही नहीं अपने से भिन्न वर्ण में विवाह आदि सम्बन्ध भी सदैव चलते रहे। इतना अवश्य रहा कि कभी ये सम्बन्ध अल्पमात्रा में रहे तथा कभी अधिक मात्रा में। महर्षि च्यवन का विवाह राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या से,[२] महर्षि भृगु के पुत्र ऋचीक का गाधि की पुत्री सत्यवती से[३], ऋचीक के पुत्र यमदग्नि का राजा प्रसेनजित् की कन्या रेणुका से[४], राजा शान्तनु का निषाद कन्या सत्यवती से[५], तथा दशरथ की कन्या शान्ता का महर्षि ऋष्यश्रृंग से विवाह हुआ था[६]। पितृभक्त श्रवण का पिता वैश्य तथा माता शूद्रा थी[७]। ब्राह्मण शुक्राचार्य की कन्या देवयानी का विवाह राजा ययाति से हुआ था। बौद्ध साहित्य भी ऐसे विवाहों का साक्षी है[८]। सैल्यूकस की पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त मौर्य से हुआ था[९]।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वर्ण का आधार गुणकर्म तथा रुचि थे, जन्म नहीं। अनेक व्यक्तियों ने अपने वर्ण से भिन्न वर्ण को अपनाया तथा परस्पर अन्य वर्णों में विवाह हुए। अतः वर्णव्यवस्था का आधार गुणकर्म मानना ही युक्त है। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि जन्म से ही पिता के कार्यों का अवलोकन करने से प्रायः सन्तान में पैत्रिक गुणों का प्राबल्य रहता है अतः पैत्रिक वर्ण प्राप्त करने वाले का समाज स्वागत करेगा। किन्तु किसी के लिये ऊपर-नीचे जाने के द्वार भी बन्द नहीं किये जा सकते। गत शताब्दी में महर्षि दयानन्द आदि महापुरुषों ने सामाजिक क्रान्ति का जो शंख फूंका है उसके आधार पर अनेक वर्ण जो अब जाति

---

१. भारतीय समाज, पृ० २७।

२. शतपथ।

३. महाभारत वनपर्व ११५.३।

४. वही वन० ११६.२।

५. महाभारत।

३. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड ११.३ तथा १०.३३।

७. वही, अयोध्या काण्ड ६.३.५१।

८. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ४३, जातक० ४.३८, १४६, ३०५,६.३४८,४२१।

९. अधिक जानकारी के लिये मूल शोध प्रबन्ध देखें।

के नाम से कहे जाने लगे हैं, उच्चतर वर्णों में सम्मिलित होने का सफल प्रयास कर रहे हैं। यह सब अभिनन्दनीय है किन्तु यदि इस व्यवस्था का आधार आचार को न बनाया गया तो इसके सफल होने में सन्देह है तथा इससे समाज के अवनत होने की भी सम्भावना है। आचार के आधार पर बनी वर्ण-व्यवस्था ही समाज की उन्नति कर सकती है।

(१०) वर्णों की संख्या

(क) एक वर्ण

वस्तुतः तो वर्ण चार ही होते हैं जैसा कि आगे उल्लेख किया जाएगा। किन्तु कतिपय स्थलों पर ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे सृष्टि के आरम्भ में एक ही वर्ण के होने के संकेत मिलते हैं तथा जिसके नाम अग्नि हंस तथा ब्रह्म आदि मिलते हैं। यथा—

१. एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
गुणक्रियाविशेषण चतुर्वर्णं प्रतिष्ठितम्॥ महाभारत शान्ति० मोक्ष० २६·११२।

२· एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निवर्ण एव च॥ श्रीमद्भागवतपुराण ६·१५·४८।

३· आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः॥ वही ८·१६॥

४. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, एकमेव तत्, तदेकं सन्न व्यभवत्, तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं, स नैव व्यभवत् स विशमसृजत, स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत॥ बृहदारण्यक उ० १·४·११–१३।

इसी प्रकार अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें ब्रह्म से ही क्षत्र की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है[1]। यह कदाचित् उस समय का वर्णन है जब आदि सृष्टि में सत्व गुण का प्राबल्य था। तब वेदों में वर्ण चतुष्टय की व्यवस्था का उल्लेख होने पर भी आवश्यकता न होने के कारण वर्णों का विभाजन नहीं हुआ था। पश्चात् एक वर्ण से कार्य न चलने पर अन्य वर्णों का विभाग होना स्वाभाविक था, जैसा कि बृहदारण्यक के प्रमाण से स्पष्ट है।

(ख) दो वर्ण

वेद के कतिपय स्थलों पर दो वर्णों का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषि वर्ण तथा उग्र वर्ण के पोषण का संकेत उपलब्ध होता है।[2] जो

---

१. क—क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम्॥ मनु० ६·३२०।
ख—क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म॥ बृ० उ० १·३·११।
ग—ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितं ब्रह्म ब्राह्मणमात्मना॥ तै० ब्रा० २·४·८।

२. उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष॥ ऋ० १·१७६·६।

प्रायः ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का ही वाचक है। अन्यत्र दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की रक्षा का उल्लेख है[१] तथा आर्यों एवं दस्युओं को जानने का राजा के लिये आदेश है[२]। यजुर्वेद में भी ब्राह्मण तथा राजन्य के क्रमशः ब्रह्मतेजयुक्त एवं शूर, शत्रुताड़क, महारथी तथा धनुर्धारी होने की प्रार्थना की गई है[३]। एक मन्त्र में ब्रह्म तथा क्षत्र के मिलकर चलने का उल्लेख मिलता है[४]।

ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचाओं में मानव समाज को देव तथा असुर इन दो भागों में विभक्त किया गया प्रतीत होता है। दस्यु लोग उत्तम नियमों अर्थात् वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन न करने वाले, मानवतारहित कर्म करने वाले, यज्ञरहित तथा नास्तिकों की संज्ञा है[५]। वे शुभकर्महीन, किसी उत्तम नियमों को न मानने वाले, पापव्रती तथा नर पिशाच होते हैं[६]। इसके विपरीत जो ब्राह्मणादि वर्ण तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों का पालन करते हैं उन्हें आर्य कहा गया है। वेद में नियम न पालने वालों को दस्यु[७], दास[८], अराव्णा[९], उग्र[१०], आदि नियमों से अभिहित किया गया है तथा नियमों की परिधि में बंध कर चलने वालों को ऋषि[११], आर्य[१२] आदि नाम दिये हैं।

वेद के उपर्युक्त सन्दर्भों में राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी तथा चारों वर्णों के प्रतीक के रूप में ब्रह्म तथा क्षत्र का उल्लेख किया गया है तथा आर्य दस्यु आदि विभाग उत्तम नियमों के पालक तथा अपालक के लिये क्रमशः प्रयुक्त हुए हैं। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रथम एक ही मानव जाति मान कर आर्य तथा दस्यु ये दो विभाग श्रेष्ठ तथा दुष्ट स्वभाव के आधार पर किये हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से माने हैं[१३]। इसमें स्पष्ट है

---

१. हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ।। ऋ० १·३४·६ ।
२. विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः ।। ऋ० १·५१·८ ।
३. यजु० २२·२२ तथा ३२·१६ ।
४. यजु० २०·२५ ।
५. अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।। ८·७०·११ ।
६. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।। ऋ० १०·२२·८ ।
७. ऋग्वेद ५·४·६, १.३३·४, ३०·३४·९, ८·७०·११, १०·२२·८ ।
८. वही० २·२२·४, ५·११·६, ५·३४·६, ५·३०·८ ।
९. इन्द्र वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तो अराव्णः । ऋ० ९·६३·५ ।
१०. ऋ० १·८९·६ ।
११. ऋ० १·१७९·६ ।
१२. ऋ० ३·३४·९, १·५१·८, ९·६३·५ ।
१३· वर्णाश्रमविषयः, पृ० २६७–२६८ ।

कि वर्ण दो न होकर चार ही हैं। यदि वेद को दो वर्ण ही अभीष्ट होते तो वहाँ चार वर्णों का उल्लेख न किया होता।

(ग) चार वर्ण

तीसरी मान्यता चार वर्णों की है। यह मान्यता अधिक सशक्त एवं वैज्ञानिक है। किसी भी उन्नत राष्ट्र को शिक्षक, रक्षक, पोषक एवं सेवक लोगों की आवश्यकता होती है। उनके बिना वह अपना कार्य सम्यक्तया नहीं चला सकता। यद्यपि इन शिक्षक आदि के कार्य भी अध्यापक उपदेशक आदि रूपों में अनेक प्रकार से विभक्त हो जाते हैं, किन्तु मुख्य उद्देश्य शिक्षा होने से ये सब ब्राह्मण वर्ण के ही अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के विभिन्न कार्यों पर नियुक्त व्यक्ति क्षत्रिय ही कहलाते हैं। यही अवस्था वैश्य एवं शूद्र के कार्यों की भी समझनी चाहिये। अन्यथा राष्ट्रोत्थान के शतशः कार्य करने वालों के अनेक वर्ण मानने पड़ेंगे। इसी वास्तविक तथ्य से अनभिज्ञ होने पर चार वर्ण अनेक जाति एवं उपजातियों में विभक्त होकर परस्पर के ऐक्य एवं सहयोग से वंचित हो गए तथा पारस्परिक ऊँच-नीच की भावना के कारण दुर्बल बन गए।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चार वर्णों का उल्लेख हुआ है। वहाँ समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण को मुख के समान, क्षत्रिय को बाहु के तुल्य, वैश्य को उरू या मध्य भाग के समान तथा शूद्र को पैरों के समान बतलाया है[1]। अन्यत्र भी चार वर्णों की चर्चा की गई है[2]। यजुर्वेद में एक स्थल पर वेद तथा ईश्वर के ज्ञान प्रचार करने के लिये ब्राह्मण, राज्य रक्षा के लिये क्षत्रिय, पशु आदि प्रजाओं के लिये वैश्य तथा कठिन एवं सेवा सम्बन्धी कार्य के लिये शूद्र को उत्पन्न करने की प्रार्थना मिलती है[3]। शतपथ भी चार वर्णों को मानता है[4]। संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्थलों पर चार वर्णों का उल्लेख हुआ है। यथा—

१. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।। गीता ४.१३

२. मनुर्मनुष्याञ्जनयद् रामपुत्रान् यशस्विनः ।

१· ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। ऋ० १०·९०·१२। यजु० ३१·११।। अथर्व० १९·६·६ तथा तैत्तिरीय आरण्यक ६·१२·५।

२· यजु० १८·४८। अथर्व० १९·६२·१।

३. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् ।। यजु० ३०·५।

४. क—चत्वारो वै वर्णाः, ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः ।। शत० ५·५·४·९।
ख— ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्राः, । शत० द्र० अखिलानन्द, वैदिकवर्ण व्यवस्था पृ० २५।
ग— ब्रह्म वा अजः (६·४·४·१५), क्षत्रं वा अश्वः (१३·२·१·१७) वैश्यं च शूद्रं चानुरासभः (६·४·४·१२)।

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्च मनुजर्षभ ॥ वाल्मीकि रा० अरण्यकांड १४.२६ ।

३. ब्रह्म क्षत्रियाविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ॥ याज्ञ० आचाराध्याय, श्लोक १० ।

४. चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ॥ वशिष्ठ स्मृति, श्लोक ४७ ।

५. सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र ।।अष्टाध्यायी २.२.६ पर महाभाष्य ।

६. ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णाः ॥ वज्रसूचि उपनिषद् ।

७. न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न ।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥ शुक्रनीति १.३८ ।

८. गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताभूत् ॥ विष्णु पुराण ४.८.१ ।

९. भार्गस्य भार्गवभूमि रतश्चातुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः ॥ वही ४.८.९ ।

१० पुत्रो गृत्समदस्य शुनको यस्य शौनकः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च ॥ हरिवंश पु० २९.१५.२० ।

११. एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुचैराचरितैस्तथा ।
शूद्रो ब्राह्मणतां गच्छेत् वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ॥ ब्रह्मपु० २२३.३२ ।

१२. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वैश्यं तथैव च ॥ भविष्यपु० ४०.१५ । १.६ भी द्रष्टव्य ।

१३. न त्वेव जन्ममात्रेण ब्राह्मी जातिर्भवेन्नृणाम् ।
न क्षत्री न वा वैश्या नैव शौद्रीति निर्णयः ॥ चातुर्वर्ण्यभारतसमीक्षा, प्रथमभाग, पृ० २६ ।

१४. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः मुखबाहूदराङ्घ्रयः ।
यस्यैकस्य विराजन्ते विराजं तं नुमो वयम् ॥ स्वामी काशिकाचन्द महाराज, पूर्वपुस्तक तृतीयखण्ड का उपोद्घात । अन्यच्च–
महाभारत शान्तिपर्व १८८.५–११ । अनुशासनपर्व ३.७ । मोक्षधर्मपर्व १८९.१, मनु० २.३१, ३.२०, १.८८–९१, १०.४, ९.११५, वैदिक कर्तव्यशास्त्र, पृ० १३९ (धर्मदेव विद्यावाचस्पति) ।

वेदों में वर्णों के नाम—

वेदों में यथावसर एक, दो तीन तथा चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वेदों में शनैः शनैः वर्णों का विकास हुआ, कदापि कदापि सूक्त न होगा। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति यह कहें कि ब्राह्मण को बुलाओ, तो उसका यह तात्पर्य कदापि न होगा कि वह ब्राह्मणेतर वर्णों को मानता ही नहीं। अपितु यह मानना होगा कि इस समय उसे केवल ब्राह्मण की आवश्यकता है, यद्यपि

वह मानता चारों वर्णों को है । अब उन स्थलों का अवलोकन करें जहाँ वर्ण से सम्बद्ध शब्द आए हैं ।

एक वर्ण—

यजुर्वेद के एक मन्त्र में केवल क्षत्र शब्द का ही उल्लेख मिलता है । (१४.९)

दो वर्णों का उल्लेख—

१. एक मन्त्र में शूद्र तथा अर्य=वैश्य का नामोल्लेख किया गया है (शूद्रार्यौ) १४.३० ।

२. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ॥ २०.२५ । यहाँ भी केवल दो नाम है ।

३. एक मन्त्र में ब्रह्म तथा राजन्य का उल्लेख है ।

४. एक मन्त्र में आर्य तथा दास पद आए हैं, जिनका वैश्य तथा शूद्र अर्थ किया जा सकता है । किन्तु यह अर्थ सन्दिग्ध है ।

तीन वर्ण—

वेदो में कहीं कहीं ३ वर्णों का भी उल्लेख मिलता है । यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा है—ब्रह्म धारय क्षत्रं विशं धारय धारय (यजु० ३८.१४) । इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के धारण करने का उल्लेख है । यजु० ३८.३९ में भी इन्हीं तीनों का उल्लेख है

चार वर्ण—

यहाँ हम उन मन्त्रों का निर्देश मात्र करेंगे जिनमें चार वर्णों का उल्लेख आया है तथा जिनसे समाज की व्यवस्था में पूर्णता आ जाती है ।

१. ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत ॥ ऋ० १०.९०.१२ । यजु० ३१.११ । अथर्व० १९.६.६ यहाँ मध्य तदस्य यद्वैश्यः पाठ है ।

२. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजु० १८.४८ ।

३. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ॥ यजु० १६.२ ।

४. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् ॥ यजु० ३०.५

५. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ॥ अथर्व १९.६२.१ ।

६. प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ॥ अथर्व० १९.३२.८ । इस प्रकार अनेक मन्त्रों में चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

११. महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य में वर्णों का उल्लेख

महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेदभाष्य में अनेक स्थलों पर वर्णों के नाम कार्य तथा प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। उनका वर्णन यथास्थान करेंगे किन्तु यहां तो वर्णों का उल्लेखमात्र किया जाता है। यजुर्वेद भाष्य में उन्होंने वर्ण सम्बन्धी नामों के अर्थ प्रायः गुणवाचक, ग्रहण किये हैं यथा—

१. ब्राह्मणेषु—ब्रह्मवित्सु। राजसु क्षत्रियेषु राजपुत्रेषु। विश्येषु—विक्षु प्रजासु भवेषु वणिग्जनेषु। शूद्रेषु—सेवकेषु। (१८.४८)।
२. ब्राह्मणः-वेदेश्वरविदनयोः सेवक उपासको वा। राजन्यः-राजपुत्रः। वैश्यः-यो विशति प्रविशतिदपत्यम्। शूद्रः—मूर्खत्वगुणविशिष्टो मनुष्यः ॥ (३१.११)।
३. ब्राह्मणम्-वेदेश्वरविदम्। राजन्यम्-राजपुत्रम्। वैश्यं-विक्षु प्रजासु भवम्। शूद्रम्—प्रीत्या सेवकं शुद्धिकरम् ॥ (३०.५)।
४. ब्राह्मणा ब्राह्मण्यश्चध्यापयेयुः, क्षत्रियाः प्रजा रक्षन्तु, वैश्याः कृष्यादिकमुन्नयन्तु, शूद्राश्चैतान् सेवन्तामिति ॥ (२३.४० भावार्थ)।
५. शूद्रार्यौ—शूद्रश्चार्यो द्विजश्च ॥ (१४.३०)
६. ब्रह्म—वेदं ब्राह्मणं वा। क्षत्रम्—क्षत्रियं राज्यं वा। विशम्—प्रजाम् (३८.१४)।
७. क्षत्रस्य राजन्यकुलस्य राष्ट्रस्य वा। ब्रह्मणः—ब्रह्मविदः—वेदवित् ब्राह्मणकुल। विशः—मनुष्यादिप्रजाः (विश इति मनुष्यनाम, निघण्टु २.३) ३८.१९।
८. आर्यः—धर्म्यगुणस्वभावः। दासः—सेवकः। अर्ये—धनस्वामिनि वैश्यादौ ॥ ३३.८२।

संख्या ६ में ब्रह्म तथा क्षत्र के साथ आए 'विशम्' पद का अर्थ प्रजा किया है। यहाँ प्रजा से तात्पर्य वैश्य तथा शूद्र प्रतीत होता है। क्योंकि प्रजा के अन्तर्गत चारों वर्ण तथा आश्रम आ जाने से तथा यहाँ ब्रह्म क्षत्र के साथ आने से विश् का अर्थ शेष वर्ण मानना ही समीचीन है। संख्या ८ में आर्यः, दासः तथा अर्ये पद आए हैं। जिनमें आर्य तथा दास स्वभाव के व्यंजक है, तथा केवल 'अर्य' पद ही वर्ण से सम्बद्ध है। यही यहाँ आर्य पद वर्णचतुष्टय का बोधक मान लिया जाए तो इस मन्त्र में भी चारों वर्ण ध्वनित हो सकते हैं। वैश्य के साथ लगे आदि पद से भी चारों वर्णों की प्रतीति की जा सकती है। महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की शैली में कहीं कहीं ऐसा चित्रण भी मिलता है कि वर्ण से सम्बन्धित एक पद मन्त्र में होने पर शेष अन्य पदों की सगति अन्य वर्णों के अर्थ में होती है। यथा, 'क्षत्रम्' पद के कारण एक मन्त्र में 'मूर्धा' का अर्थ 'शिर के तुल्य उत्तम ब्राह्मण का कुल, पष्टवाट्' का अर्थ 'पीठ से बोझ उठाने वाले ऊँट के समान वैश्य 'तथा' 'उक्षा' का अर्थ 'सींचने-

हारे बैल के तुल्य शूद्र किया है।[१] एक अन्य मन्त्र में भी चारों वर्णों का उल्लेख उनके कार्यनिर्देशपूर्वक किया है।[२]

इसी प्रकार एक मन्त्र में 'पूर्वजाय, मध्यकाय तथा जघन्याय' पद आये हैं जिनका अर्थ क्रमशः 'ज्येष्ठभ्राता या ब्राह्मण, मध्यम बन्धु या क्षत्रिय वैश्य तथा छोटे कार्यों को करने वाला शूद्र या म्लेच्छ किया है। इस मन्त्र भाष्य में भी चारों वर्ण वर्णों का स्पष्ट उल्लेख है।[३]

अन्यत्र भी उनके वेदभाष्य में वर्ण सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। यथा—

क. ब्रह्म—ब्राह्मणकुलमर्थाद्विद्वत्कुलम् । क्षत्रम्—क्षत्रियकुलमर्थाद्विद्या-शौर्यादिगुणोपेतम् । च—वैश्यादिकुलानि । २०.२५ ।

ख. ब्रह्मणे—बृहत्तमाय परमात्मने ब्रह्मविदुषे । ब्रह्महत्यायै—ब्रह्मणो वेदस्येश्वरस्य विदुषो वा हननिवारणाय ।। ३९.१३ ।

ब्रह्मवेत्ता अथवा वेद एवं ईश्वर का जानने वाला ब्राह्मण ही होता है। एक मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र में वेदविद्या को प्राप्त, वेदेश्वरवित् ब्राह्मण तथा शूरवीर, शत्रुनाशक राजन्य अर्थात् राजपुत्र हों।[४]

इस प्रकार यजुर्वेद भाष्य में अनेक स्थलों पर वर्णों का उल्लेख आता है जिनके आधार पर यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द चार वर्णों को मानते हैं तथा वर्ण धर्म का पालन न करने वालों को दस्यु[५] एवं म्लेच्छ मानते हैं।[६]

१२. चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा अन्य समाज

जिस प्रकार हिन्दू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त है, इसी प्रकार नजमल करीम ने लिखा है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुकरण पर भारत का मुस्लिम समाज भी चार वर्णों में विभक्त है—१. सय्यद, २. मुगल, ३. शेख और ४. पठान। कनिंघम (J. D. Cunningham) का भी यही मत हैं कि है कि नजमलकरीम के अनुसार २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल के मुसलमानों के चार वर्ण थे,—१. अशरफ, २. अजतफ, ३. अतरफ और ४. अरजल।[७]

डा० गौरु अंसारी उत्तर प्रदेश के मुसलमानों में भी चार श्रेणी भेद मानते

---

१. १४.९ ।

२. २३.४० भावार्थ ।

३. १६.३२ ।

४. २२.२२ ।

५. १४.३० भावार्थ ।

६. १६.३२ ।

७. द्र०, हरिदत्त विद्यालंकार—भारतीय समाज संगठन, पृ० ५—६

हैं—१. अशरफ (सय्यद, शेख, मुगल, पठान), २. मुस्लिम राजपूत, ३. साफ काम करने वाले जुलाहा, दर्जी, नाई, कुँजड़ा, मिरासी, कुम्हार, धुनिया, धोबी आदि तथा ४. गन्दा काम करने वाली भंगी आदि। अंसारी का कथन है कि यद्यपि अशरफ, जाति प्रथा में विश्वास नहीं रखते तथा इसे इस्लामी सिद्धान्तों के प्रतिकूल समझते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में सामाजिक समस्यओं के प्रति उनका रुख जाति-भेद में विश्वास करने वाले हिन्दुओं के जैसा ही होता है।[1]

अन्य समाजों और संस्कृतियों में भी समाज की यह चातुर्वर्ण्य कल्पना मिलती है। इसी प्रकार के आध्यात्मिक नियमन की प्रणाली की कल्पना प्राचीन ईरान और यूरोप में प्लेटो, अरस्तू और कुछ मध्ययुगीन विचारकों द्वारा की गई थी। इसकी कल्पना का मूल भी हमारे यहाँ के समान ही गुण, स्वभाव, नैतिक एवं सामाजिक जीवन और उत्तरदायित्व की भावना के कारण उत्पन्न मनुष्यों के आन्तरिक विभेद ही हैं। इन विभेदों के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्वभाव और गुणों के अनुसार व्यवसाय करता है, यह तथ्य भी उनकी कल्पना का आधार है। आजकल भी कई विचारकों नीत्शे, यूकेन, सिमेल और वेल्स आदि ने ऐसे निसर्गकृत क्रमानुसार श्रेणीबद्ध समाज की धारणा पर जोर दिया है। जिसमें ज्ञान और अधिकार श्रेणी के ऊँच-नीच के अनुसार ज्यादा कम होते हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण-व्यवस्था को चाहे कुछ भी नाम दिया जाए किन्तु उसका विचार सभी सभ्य समाजों में पाया जाता है।

(१३) ब्राह्मण के कर्त्तव्य

वेद ने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'[3] कहकर मुख के समान ज्ञान, तप एवं त्याग ये ब्राह्मण के कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं। यजुर्वेद में वेद प्रचार तथा ब्रह्मज्ञान को ब्राह्मण का कर्त्तव्य बतलाया है।[4] एक मन्त्र में 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् (यजु० २२.२२) कहकर राष्ट्र में ब्रह्म तेज युक्त ब्राह्मण की प्रार्थना की गई है। ब्रह्मवाचक वेद तथा ईश्वर शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि वेदाध्ययन तथा ईश्वरोपासना भी ब्राह्मण के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

स्मृति आदि ग्रन्थों में भी इसी आधार पर ब्राह्मण के षट्कर्म बतलाए हैं। वे हैं—१. वेदादि ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना, २. उन्हें अन्यों को पढ़ाना, ३. स्वयं यज्ञ करना, ४. अन्यों का कराना, ५. दान देना तथा ६. दान लेना। यथा—

---

१. द्र०—हरिदत्त विद्यालंकार पृ० ६–७

२. राधा कमल मुखर्जी—भारतीय समाज विन्यास, पृ० ३१-३२

३. ऋ० १०.९०.१२। यजु० ३१.११। अथर्व० १९.६६

४. ब्रह्मणे ब्राह्मणम्॥ यजु० ३०.५। १४.६, १९.५, ३८.१४, १९.१३ का दयानन्द भाष्यभी द्रष्टव्य।

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। मनु० १.८८

२. अध्यापनं चाध्ययनं याजनं यजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट् कर्माणि चोच्यते ।। हारीत स्मृति १८

३. यजनं याजनं दानं तथैवाध्यापनक्रियाम् ।
प्रतिग्रहश्चाध्ययनं विप्रः कर्माणि कारयेत् ।। शंख स्मृति १.२

४. षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य । स्वाध्यायाध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति ।। वशिष्ठ स्मृति ६५–६६

५. तस्माद् ब्राह्मणस्याध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहाः षट् कर्माणि भवन्ति ।। वैखानस धर्म प्रश्न १.१.५

६. इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ।। याज्ञ० स्मृ० १.११८

७. हि जातीनामध्ययनमिज्या दानं ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः ।।
गौतम स्मृति तथा गौतम धर्मसूत्र २.१.१-२

ब्राह्मण के इन छः कर्मों में वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना ये तीन कर्म जीविकार्थ हैं तथा वेदाध्ययन, यजन एवं दान ये तीन कर्म कर्त्तव्य पालनार्थ हैं ।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक भाव को ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म माना है ।[2] संस्कारविधि के गृहस्थाश्रम प्रकरण में महर्षि लिखते हैं—ये गुण कर्म जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें ।[3] सत्यार्थप्रकाश में मनु प्रतिपादित ६ कर्म तथा गीतोक्त ६ गुण-कर्मों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मणस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें ।[4] महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में मनु के श्लोकों की तथा सत्यार्थप्रकाश में गीता के श्लोकों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है, जो इस विषय में विशेषतया द्रष्टव्य है ।

---

१. षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविकाः ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहाः ।। मनुः १०.७५

२. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।१५.४२

३. पृ० २५१ ।

४. पृ० १३१ ।

अन्यत्र भी ब्राह्मण के इन्हीं गुणों का प्रायः उल्लेख है । यथा—

१. मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः । ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यात् ।। महाभारत शान्ति० १४·१५ । वहीं ६३.८ तथा १८.४४ भी द्रष्टव्य हैं ।

२. ज्ञानकर्मोपासनादिभिर्देवताराधने रतः ।
शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः ।। शुक्रनीतिसार १·४०

३. योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम् ।
विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ।। वशिष्ठ स्मृति ६.२१

४. शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ।। श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध ७.२१

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म तेज की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिये ।[1] वह ब्राह्मण के चार विलक्षण गुण बतलाता है । वे हैं—१. ब्राह्मण रूप में प्राप्त माता के पवित्र गुण, २. पवित्राचरण, ३. यश एवं ४. लोगों को पढ़ाना तथा पूर्ण बनाना ।[2] मनु का यह भी कहना है कि ब्राह्मण सब वर्णों की जीविका के साधनों को जाने तथा उन्हें अन्यों को सिखाए ।[3]

इस प्रकार एक ज्ञानी, तपस्वी तथा राष्ट्र-शिल्पी के रूप में ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है । जिसे शिक्षा नीति का सर्जक तथा संचालक कहा जा सकता है, जो राष्ट्र को जीवन दिशा का निर्देश करके अज्ञान रूपी राष्ट्र के महान् शत्रु से सतत युद्ध करने के लिये बद्धपरिकर रहता है । वह राष्ट्र सुख के लिये अपने सुख को न्यौछावर करके शिरःस्थानी सम्मान का भाजन बनता है ।

(१४) क्षत्रिय तथा उसका महत्व

ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय भी समाज का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है । इसका भी महत्व एवं विशिष्टत्व असंदिग्ध है । समस्त राज्य की बाह्य एवं आन्तरिक व्यवस्था का भार इसी पर है । आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से सुरक्षित राज्य में ही धर्म तथा संस्कृति सुपल्लवित, सुपुष्पित एवं सुफलित हुआ करते हैं । इसीलिये राज्याभिषेक के समय राजा को राज्यासन पर बैठाकर राजा बनने की प्रसन्नता में कहते हैं 'क्षत्रिय प्रादुर्भूत हुआ है जो समस्त प्राणियों का अधिपति, प्रजाओं का उचित उपयोग करने वाला, शत्रुओं का नाशक तथा ब्राह्मणों एवं धर्म का रक्षक है ।''[1] जो स्थान वन्य जन्तुओं में व्याघ्र का, वनस्पतियों में वट का, ओषधियों में व्रीहि

---

१. क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजन्यमित्राणां हन्ताजनि ब्राह्मणानां गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि ।। ऐतरेय ब्रा० ३९.३

एवं दूर्वा का है, वही स्थान मानव समाज में क्षत्रिय का है ।[1] वह सब आदित्य की भांति सब भूतों-प्राणियों का अधिपति है ।[2] जैसे ग्रीष्म ऋतु सबको सन्तप्त कर देती है, ऐसे ही पापी और अपराधियों को सन्तप्त करने के कारण क्षत्रिय को भी ग्रीष्म कहा गया है ।[3] कदाचित् इसी कारण गृह्यसूत्रकारों ने ग्रीष्म में ही क्षत्रिय के उपनयन[4] का तथा शतपथकार ने ग्रीष्म में क्षत्रिय के अग्न्याधान[5] का विधान किया है ।

क्षत्र को इन्द्र तथा राजन्य कहा गया है ।[6] प्रारम्भ में एकमात्र ब्राह्मण वर्ग था किन्तु जब वह व्यवस्था सम्बन्धी कार्य करने में समर्थ न हुआ तब उसने श्रेयो-रूप क्षत्रिय की सृष्टि की । देवों में भी इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु एवं ईशान ये सब क्षत्रिय से सम्बद्ध हैं । इसलिये क्षत्र से बढ़ कर कोई नहीं है । इसी कारण राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है ।[7] इसका अभिप्राय कदाचित् यह हो कि न्यायव्यवस्था में क्षत्रिय ब्राह्मण को भी यथापराध दण्ड देने का अधिकार रखता है, अतः उसका महत्व निर्विवाद सिद्ध है । वेद ने समाज में क्षत्रिय का वह स्थान माना है जो शरीर में भुजाओं का है ।[8] हाथ ही रक्षण, शोधन, कण्टकमोचन तथा यथासमय वाह्य आक्रमण से शरीर की रक्षा करते तथा शक्ति के परिचायक हैं । अतः राष्ट्र के अन्दर उपर्युक्त कार्य करने वाले क्षत्रिय माने जाते है ।

(१५) क्षत्रिय के गुण कर्मस्वभाव तथा कर्त्तव्य

वेद ने क्षत्रिय की भुजाओं से उपमा दी है ।[9] जिसका तात्पर्य हैं कि शरीर में

---

१. क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः ।। वही ८.६
क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः ।। वही ७.३१; ८.१६
क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा ।। वही ८.८
क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् व्रीह्यः ।। वही ८.१६

२. आदित्यो वै देवं क्षत्रमादित्य एषां भूतानामधिपतिः ।। वही ७.२२

३. क्षत्रं हि ग्रीष्मः ।। शत० २.१.३.५

४. वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम् ।। बौधायन गृह्यसूत्र २.५.६

५. तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत ।। शत० २.१.३.५

६. क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ।।शत० ५.१.१.११ ।

७. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । एकमेव, तदेकं सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्यु-रीशान इति, तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमध-स्तादुपास्ते राजसूये । शत० १४.३.२.१८ ।

८. बाहू राजन्यः कृतः ।। ऋ० १०.१६०.१२ ।

९. यजु० ३१.११ आदि ।

भुजाओं के जो कार्य हैं वही राष्ट्र में क्षत्रिय के हैं। भुजाओं के कार्य निम्नलिखित हैं—१. बलपराक्रम—हम बल तथा पराक्रम का कार्य भुजाओं से करते हैं। इसीलिये यजुर्वेद भाष्य में महर्षि दयानन्द ने क्षत्रिय को भुजाओं के समान बल एवं पराक्रम से युक्त कहा है।[1] शतपथ भी बाहुओं को क्षत्रिय का पराक्रम बतलाता है।[2] २. भुजाओं का दूसरा कार्य रक्षण है। शरीर पर जहाँ भी क्षत या प्रहार की सम्भावना है, हाथ वहाँ अपने ऊपर चोट की परवाह न करते हुए पहुंचते तथा उस स्थान की यथाशक्ति रक्षा करते हैं। इसीलिए कवि कालिदास ने रघुवंश में क्षत से त्राण के कारण क्षत्रिय शब्द को लोकरूढ़ कहा है।[3] तीसरा कार्य भुजाओं का शोधन है। शरीर स्थान अथवा वस्त्रादि के शोधन का कार्य हाथ ही करते हैं इसी प्रकार राष्ट्र से दुर्गुण दुर्व्यसन तथा अन्य बुराइयों का शोधन कर राष्ट्र को स्वच्छ रखना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। मनु ने उसे अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण के समान बाँधने वाला एवं वायु तथा सूर्य के समान शोधन करने वाला कहा है।[4] ४. शरीर में लगे काँटे को निकालना भी हाथ का ही कार्य है। इसी प्रकार राष्ट्र से अन्याय अत्याचार के कण्टक का मोचन भी क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। ५. हाथ का पाँचवा कार्य है समय पड़ने पर प्रहार करना। यास्क ने हस्त की निष्पत्ति 'हन धातु से मानी है,[5] जो इसी तथ्य की द्योतक है। शतपथ ने बाण अर्थात् शस्त्रास्त्रों को क्षत्रिय के प्रकाशक कहा है।[6] यजुर्वेद भाष्य में क्षत्र का अर्थ 'विद्याशौर्यादि गुणों से युक्त' भी है।[7] शतपथ के क्षत्र को 'इन्द्र' तथा 'राजन्य'[8] कहने का अभिप्राय: यह है कि क्षत्रिय ऐश्वर्य से युक्त, शत्रुओं का नाशक, युद्ध से भयभीत न होने वाला तथा राज्य संचालक है।[9] अतः उपर्युक्त गुण भी क्षत्रिय में होने आवश्यक हैं।

---

१. भुजाविव बलवीर्ययुक्तः ।। ३१.११ ।

२. वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यदबाहू ।।५.४.३.१७ ।

३. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।।२.७ ।

४. मनु ७.७ । ५. हस्तो हन्तेः ।।

६. इषवो वै दिद्यवः ।। शत० ५.४.४.२ ।। तस्य [क्षत्रियस्य] इषवः = बाणाः शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत् दिद्यवः प्रकाशकाः सदा भवेयुः ।। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका—म. दयानन्द, वर्णाश्रम विषयः, पृ० २६७ ।

७. क्षत्रम्—क्षत्रियकुलमर्थाद्विद्याशौर्यादिगुणोपेतम् ।। यजु० २०।२५। पर म० दयानन्द भाष्य ।

८. शतपथ० ५.१.१.११ ।

९. यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः क्षत्रियो भवितुमर्हति ।। ऋ० वे० भा० भू०, वर्णाश्रमविषयः पृ० २६७ ।

यजुर्वेद में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों पर विचार करते हुए राज्य कार्य अथवा प्रजापालन को क्षत्रिय का कर्त्तव्य बताया गया है।[1] महाभारत के अनुसार क्षत्रिय दान करे किन्तु याचना न करे। यज्ञ करे किन्तु ऋत्विक् बनकर यज्ञ न कराए, अध्ययन करे किन्तु अध्यापन न करे। सदैव दस्यु वध में युक्त रहे तथा रण में पराक्रम करे। याज्ञिक, वेदज्ञ तथा समरविजयी राजा ही लोकविजयी होते हैं। बिना घाव लगे जो युद्ध से पराङ्मुख होता है, पुराविद् उसके काम की प्रशंसा नहीं करते। इसका मुख्य कार्य दस्यु दमन है। दान अध्ययन तथा यज्ञ राजाओं का क्षेम करता है अतः धर्म के इच्छुक राजा को विशेषतया युद्ध करना चाहिये। **राजा समस्त प्रजा को धर्म-कृत्यों में लगाकर सब कार्य धर्म-पूर्वक** तथा शान्ति-पूर्वक कराए।[2] इस प्रकार महा-भारत यज्ञ, अध्ययन, दान, दस्युनाश, प्रजापालन तथा युद्ध में पराक्रम आदि क्षत्रिय के कर्त्तव्य बतलाता है।

गौतम के अनुसार ब्राह्मण के कृत्यों से क्षत्रिय के ये कृत्य अधिक हैं—१. सब प्राणियों की रक्षा, २. न्याय पूर्वक दण्ड देना, ३. वेदज्ञ ब्राह्मण, असमर्थ ब्राह्मण तथा अन्य लोगों तथा उपकुर्वाण ब्रह्मचारियों का भरण-पोषण, ४. विजय के लिये प्रयत्न करना, विशेषतया भय के अवसर पर, ५. रथ तथा धनुष के कार्य (युद्धादि) से जीवन यापन, ६. युद्ध में स्थिर रहना, पीछे न हटना, ७. युद्ध में अश्व सारथि तथा आयुध-रहित, खुलेकेशों वाले, हाथ जोड़ने वाले, पराङ्मुख होकर बैठे हुए, वृक्षादि पर चढ़े हुए, दूत तथा अपने को गौ (मैं तेरी गौ हूँ) तथा ब्राह्मण कहने वालों को छोड़-कर अन्यों को युद्ध में मारने में दोष नहीं है। ८—चौर से चुराया धन वापिस लेकर जिसका हो उसके पास पहुंचाए अथवा अपने कोष से दे। १० बालधन को तब तक सुरक्षित रखे जब तक वह वयस्क न हो जाए अथवा समावर्तन के उपरान्त गुरुकुल से न लौट आए।[3]

---

१. क्षत्राय राजन्यम् ।।३०.५ राज्याय पालनाय वा राजपुत्रम् ।। म. दयानन्द भाष्य।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन पर्व, अ० ६०।१३–१९।

३. राज्ञोऽधिकं रक्षणं भूतानाम्। न्याय्यदण्डत्वम्। बिभृयाद् ब्राह्मणाञ् श्रोत्रि-यान्। निरुत्साँश्च ब्राह्मणान्। अकराँश्च। उपकुर्वाणाँश्च। योगश्च विजये। भये विशेषेण। चर्या च रथधनुर्भ्याम्। संग्रामे संस्थानमनि निवृत्तिश्च। न दोषो हिंसायामाहवे। अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेश. पराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षादिरूढगोब्राह्मणवादिभ्यः। चौरहृतपजित्यं यथास्थानं गमयेत्। कोशाद्वा दद्यात्। रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्रापणात्। समावृत्तेर्वा ।। गौतम स्मृ०, ध. सू. २.१७–१०, १२–१८, ४६–४९।

यज्ञ, अध्ययन तथा दान को सभी क्षत्रिय के धर्म मानते हैं आपस्तम्ब यथापराध दण्ड तथा युद्ध[१] एवं वौधायन शस्त्र, कोश का संचय तथा प्राणियों की रक्षा क्षत्रिय के विशेष कर्त्तव्य मानता है।[२] वैखानस के मतानुसार क्षत्रिय के तीन कर्त्तव्य हैं—प्रजापालन, दुष्ट निग्रह तथा युद्ध।[३] जो लोक संरक्षण में दक्ष, शूर, दमनशील, पराक्रमी दुष्टों के निग्रह के स्वभाव वाला हो, वही क्षत्रिय कहलाता है, यह शुक्र की मान्यता है।[४] पृथिवी के प्राणियों को नियम में रखना, यथापराध दण्ड देना तथा प्रजा की रक्षा करना भी क्षत्रिय के कर्त्तव्य माने गये हैं।[५] विष्णु ने यजन तथा अध्ययन को सब द्विजों का धर्म बताकर क्षत्रिय का धर्म शस्त्रनिष्ठता मानी है।[६] किन्तु यह क्षत्रिय के कर्त्तव्य पर पूर्णतया विचार नहीं है। क्योंकि शस्त्र तो डाका डालने वाला है तथा आतंकवादी भी अपने पास रखता है। शंख तथा वशिष्ठ प्रजापालन को क्षत्रिय का मुख्य कर्त्तव्य मानते हैं।[७] महर्षि दयानन्द भी 'क्षत्रियाः प्रजा रक्षन्तु'[८] में इसी भाव की पुष्टि करते हैं। हारीत विस्तार से क्षत्रिय के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालता है।[९]

ऋग्वेद में क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह १. राष्ट्ररक्षा का संकल्पी, २. यज्ञ कर्मों को पूर्ण करने वाला, ३. महान ज्ञानी, ४. अहिंसनीय कर्मों से शोभायमान, ५. प्रभु का उपासक, ६. सत्यप्रतिज्ञ तथा सत्यसंघ बनाने वाला, ७. किसी से व्यर्थ द्रोह न करने वाला और ८. युद्ध में तथा पापी को मारने में पराक्रम दिखाने वाला हो।[१०] वह ब्राह्मण को न सता कर राष्ट्र का रक्षण करता है।[११] क्योंकि राष्ट्र रक्षा का व्रत लेने वाला क्षत्रिय राष्ट्र को प्राप्त करता है।[१२] अथर्ववेद संयमी रहकर राष्ट्र रक्षा करने का राजा को आदेश देता है।[१३]

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.५.१०.६।
२. वौधायन धर्मसूत्र १.१०.१८.३।
३. वैखानस धर्म प्रश्न १.१.७।
४. शुक्रनीतिसार १.२४।
५. महाभारत शान्ति० राजधर्म ७२.७।
६. विष्णु स्मृति।
७. शंख स्मृति १.३—४। वशिष्ठ ६७—६८।
८. यजु० २३.४० का भावार्थ।
९. हारीत स्मृति २.२—५।
१०. धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद् दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥ऋ० १०।६६।८।
११. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ऋ० १०।१०९।३।
१२. धृतव्रताः क्षत्रियाः क्षत्रमाशतुः ॥ वही ८.२५.८।
१३. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥ अथर्व० ११.५.१७।

उपर्युक्त उदाहरणों में राजा के कृत्यों का अधिक उल्लेख हुआ है। महर्षि दयानन्द ने मनु[1] तथा गीता[2] को उद्धृत करते हुए सत्यार्थप्रकाश[3] एवं मनुस्मृति में[4] क्षत्रिय के गुणकर्मों का उल्लेख करते हुए लिखा है—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययन) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्णादि और प्रजा को अभय दान देना, (प्रजानां रक्षणाम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेष्वनु सक्ति·) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना, लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रह कर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना।

शौर्यम्—शस्त्र, संग्राम, मृत्यु और शस्त्र प्रहारादि से न डरना, (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना, (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत्, क्लेश, दु:ख प्राप्त हो तथापि धैर्य रख के कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम वाग्युद्ध, दूतत्व, न्यायविचार आदि सब में अतिचतुर, बुद्धिमान होना (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना,[5] (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माधर्म करने वालों को यथायोग्य सुख दुःख रूप फल देता है और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त कर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोग रहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चला-

---

१. प्रजानां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ मनु० १.८९।

२. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायम्।
दानमीश्वरभाश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥ श्रीमद्भगवतगीता १८.४३।

३. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० १३२।

४. सं. वि. गृहाश्रम प्रकरण, पृ० २५१--२५२।

५. सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास में न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे, जो भागने वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना, लिखा है। स्पष्ट है कि युद्ध नियम विजयार्थ हैं।

कर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय क्षत्रिया होवे । इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना । और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावें वैसे ही राजा पुरुषों और रानी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे । जो क्षत्रिय राजा न हो वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ।

इस प्रकार न्याय से प्रजापालन, सबको नियम में रखना, अन्याय अत्याचार से प्रजा की रक्षा करना तथा बाह्य एवं आन्तरिक सुरक्षा आदि क्षत्रिय वर्ण के कर्त्तव्य हैं । जैसा कि पूर्व उल्लेख किया गया है सुरक्षा तथा मर्यादा पालन कराना क्षत्रिय से ही सम्भव है ।

वैश्य—वर्णक्रम की दृष्टि से वैश्य का स्थान तृतीय है । वेद के अनुसार वैश्य का समाज में वह स्थान है जो शरीर में उरू या मध्य भाग अर्थात् छाती से नीचे तथा पैरों से ऊपर के भाग का है ।[1] अन्न का पचाना तथा रस रक्त के रूप में परिणत कर समस्त शरीर में पहुंचाना उदर का ही काम है । इसी प्रकार समस्त राष्ट्र के पदार्थों का शोधन यथोचित मेलन आदि करके उनको राष्ट्रोपयोगी बना कर यथावश्यकता समस्त राष्ट्र में पहुंचाना वैश्य का कार्य है । वह उरू के समान विषयों पर व्यापारार्थ आता जाता भी है ।

(१६) वैश्य का महत्व

राष्ट्र के विकास में अर्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । चाणक्य के अनुसार जहाँ सुख का मूल धर्म है वहाँ धर्म का मूल अर्थ ही है ।[2] अर्थ के अभाव में राष्ट्र पंगु बनकर रह जाता है । राष्ट्र केसरी महाराणा प्रताप को अर्थाभाव के कारण अनेक यातनायें सहन करनी पड़ी थीं । उनके भी पैरों को तभी बल मिला था जब भामासाह ने उन्हें धन से निश्चिन्त कर दिया था । धन का अर्जन तथा यथोचित वितरण प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता । अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का निर्व्यसनी तथा मितव्ययी होकर रक्षण करना, रक्षित धन की यथोचित सूद तथा व्यापार द्वारा वृद्धि करना तथा बढ़े धन का सत्पात्रों में व्यय कर देना,[3] यह कार्य विशिष्टतया वैश्य वर्ग करता है । वह कृषि, व्यापार, पशुपालन एवं अनेक प्रकार के शिल्पादि को उन्नत करके समाज के अभाव नामक शत्रु को भगाता तथा समाज को धन धान्य से पूरित करता है ।

---

१. उरू तदस्य यद्वैश्यः ॥ ऋ० १०.९०, यजु० ३१.११ । मध्यं तदस्य यद्वैश्य व ॥ अथर्व० १९।६।६ ।

२. सुखस्य मूलं धर्मः । धर्मस्य मूलमर्थः । चाणक्य सूत्राणि १--२ ।

३. क. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैवं वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् । (मनु ७.९९) ।

ख. अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् । पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ याज्ञ० १।३।१७ ।

(१७) वैश्य तथा उसके कर्तव्य

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में वैश्य के बलवान होने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जो आप सम्यक्तया सम्बन्ध करते हो, प्रशंसा के योग्य प्राप्ति के अधिकार में सुशोभित होते हो सो तू अग्नि के योग से हमारे लिये सब धनों को अच्छे प्रकार धारण कर'। इसके भावार्थ में वे लिखते हैं--राजाओं द्वारा रक्षित वैश्य अग्न्यादि विद्याओं से अपने तथा राजपुरुषों के लिये अखिल धनों को अच्छे प्रकार धारण करें[1]। इस मन्त्र के आधार पर वैश्य सबसे सम्बन्ध रखने वाला, प्रशंसनीय कार्य करने वाला, न कि काला धन अर्जित करने वाला तथा कल-कारखाने खोलकर धन कमाकर अपने तथा राष्ट्र के लिये उस धन को अपने पास रखने वाला हो। यदि राष्ट्र को आवश्यकता पड़े तो धन को राष्ट्र के हित में लगा देना, न कि धन पर सर्प बन कर बैठ जाए, जिससे वह धन न उसके काम आए तथा न अन्यों के। ऐसा करने पर देश में अभाव की स्थिति आ जाती है तथा राष्ट्र रूपी भवन लखखड़ा जाता है। इसलिये वैश्य को आदेश दिया गया है कि वह सब के लिये धनों को सम्भाल कर रखे। क्योंकि वैश्य पीठ से बोझ उठाने वाले ऊँट के समान समस्त राष्ट्र के अर्थभार को वहन करने वाला है[2]। ऊरु के समान गति कार्य उसी को करना है[3]। व्यापारार्थ यत्र तत्र जाना उसका कार्य है[4]। वैश्यों का कार्य कृषि आदि की उन्नति भी है[5]। राष्ट्र को अन्नादि से समृद्ध तथा आत्मनिर्भर करने के लिये कृषि आदि आवश्यक हैं। यजुर्वेद के कतिपय स्थलों पर उसे अर्य भी कर कहा गया है[6], जो उसकी निरन्तर गतिशीलता का परिचायक है। पशु आदि प्रजा के रक्षण एवं संवर्धन के लिये वैश्यों की आवश्यकता है[7]।

इस प्रकार यजुर्वेद भाष्य में वैश्यों के कार्य आदि का उल्लेख सम्यग् रूपेण उपलब्ध होता है। वेद के परवर्ती साहित्य में इसी का अनुसरण तथा विकास मिलता है।

(१८) ऋग्वेद में वैश्य का उल्लेख

ऋग्वेद में एक मन्त्र में इन्द्र से श्रेष्ठ धन की प्रार्थना की गई है[8]। एक

---

१. यजु० १५।३० का पदार्थ तथा भावार्थ।
२. पष्ठवाट्—पीठ से बोझ उठाने वाले ऊँट के सदृश वैश्य। यजु० १४·९।
३. उरू—उरू इव वेगादि कर्मकारी (वैश्य) यजु० ३१·११।
४· वैश्य—यो यत्र तत्र विशति प्रविशतितदपत्यम्॥ वही ३१·११।
५. वैश्याः कृष्यादिकमुन्नयन्तु॥ यजु० २३·४० भावार्थ।
६· अर्यः—यजु० १४·३०।१५·३०।२२·२२।
७· मरुद्भ्यः—पश्वादिभ्यः प्रजाभ्यः (वैश्यम्) विक्षु प्रजासु भवम्···सर्वतो-जनय। यजु० ३०५।
८· इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि॥ ऋ० २·२१·६

सम्पूर्ण सूक्त इसी प्रार्थना के साथ समाप्त होता है कि हमें अद्भुत तथा सुखवर्धक धन प्रदान करो[१]। एक मन्त्र में दानयोग्य, विजयप्रद, सदा सहन शक्ति देने तथा बाह्याभ्यन्तर रिपुओं का मर्षण करने वाले सर्वश्रेष्ठ धन की रक्षार्थ के निमित्त प्राप्त करने की प्रार्थना मिलती है[२]। वहाँ अन्यत्र भी धन की प्रार्थना मिलती है।[३] इन्द्र को बहुत देने वाला कह कर उससे बहुत देने, कम न देकर बहुत भरने की प्रार्थना करके कहा है कि तू स्वयं भी बहुत देने की इच्छा रखता है[४]।

यह धन की इच्छा सामान्य तथा सब वर्णों की तथा विशेषतया वैश्य की होती है। ऋग्वेद में धन की प्रबल इच्छा निर्देशक मन्त्र मुख्यतया वैश्य का ही संकेत करते हैं।

सामवेद—

सामवेद के भी अनेक मन्त्रों में प्रभु से ऐश्वर्य प्राप्ति की प्रार्थना की गई है[५]।

अथर्ववेद तथा वैश्य—

अथर्ववेद के तो एक सूक्त का ऋषि ही अथर्वा पण्यकामः है। उसमें वैश्य को भी 'इन्द्र' कहा गया है तथा उसे व्यापार के लिये प्रेरित किया है[६]। वहाँ यह भी प्रार्थना की गई है कि धन वृद्धि के लिये मैं जिस धन से व्यापार करता हूँ वह मेरे यहाँ बहुत हो, कम न रहे[७]। प्रजापति, इन्द्र, सविता, सोम तथा अग्नि से भी व्यापार में रुचि उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है[८]।

---

१. अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ऋ० १०·४७

२. एन्द्र सानसिं रयिं साजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर ॥ ऋ० १·८·१

३. ७·१·५, ७·२१·१७, ८·९९·४

४. भूरिदा असि वृत्रहन्।
भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्याभर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि। भूरिदा ह्यसि। ऋ० ४·३२·१९,२०,२१।

५· ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक् ॥ साम पूर्व० आरण्य पर्व ६·१०। अन्यत् द्र० मन्त्रसंख्या ३३१।३४५। सहस्रदाः शतदा भूरिदा वा ॥ ५३१।५९३ आदि।

६· इन्द्रमहं वाणिजं चोदयामि ॥ अथर्व ३·१५·१।

७. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥ अथर्व ३·१५·५।

८. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमादधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ वही ३·१५·६।

वेद से परवर्ती साहित्य में वैश्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख—

वेद के परवर्ती साहित्य में प्रायः वैश्य के यज्ञ, अध्ययन तथा दान ये धार्मिक कृत्य तथा पशुपालन, कृषि तथा वाणिज्य आदि जीविका सम्बन्धी कृत्य बतलाए हैं। कुछ धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इनमें से कम तथा कुछ में आचार सम्बन्धी कृत्यों को बढ़ाकर बतलाया गया है। विद्वानों के अवलोकनार्थ उनका उल्लेख किया जाता है—

१. विट्स्वध्ययनयजनदानकृषिवाणिज्यपशुपालनसंयुक्तं कर्मणां वृद्ध्यै।
बौद्धायन धर्म० १.१०.१८४।

२. क्षत्रियवद् वैश्यस्य दण्डयुद्ध वर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्याधिकम्। आपस्तम्ब० २.५.१०.८।

३. वैश्यस्याधिकं कृषिवाणिक्पाशुपाल्यकुसीदम। गौतम धर्मसूत्र २.१.५०

४. वैश्यस्य पाशुपाल्यकुसीदवाणिज्यानि ॥ वैखानसधर्म प्रश्न १.१.८

५. वैश्यस्त्र पशुपालनम् ॥ विष्णु स्मृति

६. कृषिवाणिज्यगोरक्षाः कुसीदं तुर्यमुच्यते ॥ ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, हरि कृष्ण शास्त्री।
श्लोक ४६।

७. क्रयविक्रयकुशला ये सततं पण्यजीविनः।
पशुरक्षाः कृषिकरास्ते वैश्याः कीर्तिताः भुवि ॥ शुक्रनीति १.४२

८. देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥ ब्राह्मणोत्पत्ति मा० श्लोक ४६

९. लोहकर्म तथा रत्नं गवाञ्च प्रतिपालनम्।
वाणिज्यं कृषिकर्माणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥ पाराशर स्मृति लोक ६१

१०. कुसीदकृषिवाणिज्यं पशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति ११९ आचाराध्याय।

११. एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवाणिज्यं पशुपाल्यं कुसीदं च ॥ वशिष्ठ स्मृति ६.९।

१२. गोरक्षां कृषिवाणिज्यं कुर्याद्वैश्यो यथाविधि ॥ हारीत स्मृति ऊ० २.६।
यज्ञाध्ययनदानानि कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ वही २.९

१३. वैश्यस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥
पितृवत् पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥
''''प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ महाभारत शान्ति० राजधर्म० ६०.२१–२३।

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् विधृयादिमान् ॥ वही० ७२·८ ।

१४. कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता १८·४४ ।

१५· पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु० १·९० ।

मनु के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार महर्षि दयानन्द ने वैश्य के धर्म तथा जीविका का उल्लेख इस प्रकार किया है—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि वेचना, (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाव, भूगर्भ विद्या, भूमिवीज आदि के गुण जानना और सव पदार्थों के भावाभाव को समझना, (कुसीदम्) व्याज का लेना, इस पर उन्होंने निम्न टिप्पणी दी हैं—"सवा रुपये से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे। जब धन दूना हो जाए उससे आगे कोड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून व्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे।" (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात (खाद) और भूमि की परीक्षा, जोतना, वोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार वैश्य की जीविका हैं। ये गुणकर्म जिस व्यक्ति में हो वही, वैश्य वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये[१]।

वेद में वतलाये वैश्य के गुणकर्मों को आधार वनाकर धर्मसूत्र, स्मृतियों तथा महाभारत आदि में उपर्युक्त उल्लेख प्रस्तुत किया गया है जो उपर्युक्त सात के ही अन्तर्गत माना जा सकता है।

(१९) शूद्र का महत्व गुण तथा कर्तव्य

वर्णों के कर्म की दृष्टि से शूद्र चतुर्थ तथा अन्तिम वर्ण है। वेद ने शूद्र की उपमा पैरों से दी है। जिस प्रकार पैर हमारे समस्त शरीर का भार उठाते हैं। इसी प्रकार शूद्र भी समाज रूपी शरीर का वहन करता है। पैरों के विना पगु व्यक्ति की भाँति व्यक्ति समाज भी शूद्र विना पंगु है। जिस सेवा धर्म को परम गहन तथा योगियों के लिये भी अगम्य कहा जाता है[२], उस धर्म का व्रत लेकर चलने वाला शूद्र समाज के लिये कितना उपकारी है यह हम प्रतिदिन ही देखते हैं। महर्षि दयानन्द का कथन है कि शूद्र विद्या रहित होने से विज्ञान सम्वन्धी कार्य तो न कर सकेगा किन्तु शरीर के सव काम कर सकता है[३]।

---

१. संस्कारविधि, गृहाश्रम प्रकरण पृ० २५२–५३ तथा सत्यार्थप्रकाश, समु० ४ पृ० १३२–३३।

२. सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ भर्तृहरि, नीतिशतक ५४

३. सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४, पृ० १३३–१३४

वेद के अनुसार शूद्रों में कार्य भेद तो है किन्तु आचार भेद नहीं। वह अन्य वर्णों से भिन्न विद्या प्राप्त न करने के कारण है। किन्तु इसका कारण उसकी आचार सम्बन्धी दुर्बलता न होकर मस्तिष्क की उर्वरता का अभाव है। कालान्तर में हमें शूद्रों के भी भेद मिलते हैं, यथा—

१. क—अनिरवसित शूद्र—बढ़ई, लोहार आदि।
   ख—निरवसित शूद्र—चाण्डाल आदि[1]।

२. क—भोज्यान्न—जिनका बनाया भोजन ब्राह्मण खा सके। इनमें दास, गोपाल, कुलमित्र, आधे पर कृषि करने वाला, अपनत्व दर्शक तथा नापित आते हैं। मिताक्षरा ने कुम्भकार को भी इसी कोटि में माना है[2]।

३. सच्छूद्र—सद् व्यवसाय करने वाले, द्विजसेवा में निरत मद्य मांस का सेवन न करने वालों को सच्छूद्र कहा गया है—

विशुद्धान्वयसञ्जातो निवृत्तो मद्यमांसयोः।
द्विजभक्तिर्वर्णवृत्तिः सच्छूद्रः संप्रकीर्तितः॥ वृद्धपाराशरस्मृति, अ० ४

तथा—न सुरां सन्धयेद्यस्तु आपणेषु गृहेषु च।
न विक्रीणाति च तथा सच्छूद्रो हि स उच्यते॥ ब्राह्मविभाग भविष्य पुराण ४४·३२।

ये भेद सम्भवतः दुष्टकर्म करने वालों को भी शूद्र मान लेने के कारण हुए हों, अन्यथा आर्यों के चारों वर्ण एक साथ खाते-पीते थे। वेद ने तो "सह प्रपा सह वोऽन्नभागः" में यही शिक्षा दी है।

(२०) शूद्र के गुण तथा कर्तव्य

वेद ने 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत[3]', इस वाक्य में शूद्र के कर्त्तव्यों की ओर संकेत किया है। महर्षि दयानन्द ने 'पद्भ्याम्' का अर्थ :'सेवानिरभिमानाभ्याम्' किया है। शूद्र में ये गुण होने आवश्यक है। शतपथ के अनुसार वैश्य तथा शूद्र गर्दभ के अनुरूप कम खाकर अधिक श्रम करने वाले हैं[4]। शूद्र वर्ण पृथिवी के समान पोषण गुण से युक्त होता है[5]। सत्यभाषण, अक्रोध[6], नम्रता तथा शौच भी उसके गुण हैं[7]। उसे

---

१. अष्टाध्यायी २·४·१० पर महाभाष्य
२. याज्ञवल्क्य स्मृति तथा मिताक्षरा टीका १·१६६
३. यजु० ३१·११ तथा उसका दयानन्द भाष्य
४. वैश्यं च शूद्रं चानुरासभः॥ शत० ६·४·४.१२
५. स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं (पृथिवी) वै पूषा॥ शत १४·४·२·२५
६. तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्॥ गौतम धर्मसूत्र २·१·५२
७. शूद्रस्य संनतिः शौचम्॥ श्रीमद्भागवत पु० स्कन्ध ७·२४ तथा ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्डश्लोक ५०

पवित्र, उच्च वर्णों का सेवक, मिष्टभाषी, तथा अहंकाररहित रहना चाहिये[१]।

उसका मुख्य कर्त्तव्य अज्ञान, अन्याय तथा अभाव को हटाने के कार्य में लगे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को सहयोग देना है। उनकी सेवा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करके वह उन्हें मुख्य कार्य में निश्चिन्तता से लगने का सुभीता प्रदान करता है जिससे वे राष्ट्र के उपयोगी कार्यों में अधिक समय तथा मन दे सकें। विद्वानों ने उनका मुख्य कार्य तीनों वर्णों की सेवा ही बतलाया है। उसके लिये देखें-- यजु० २३·४० का भावार्थ महर्षि भाष्य, बौधायन धर्मसूत्र १·१०·८८·५, गौतम धर्मसूत्र २·१·५७, आपस्तम्बधर्मसूत्र २·२·४४ तथा १·७, वशिष्ठ स्मृति श्लोक ७, ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड श्लोक ४६, पाराशरस्मृति श्लोक ६२, शुक्रनीति १·७२, श्रीमद्भगवद्गीता १८·४४, मनु० १·९१, ९·३३४—३३५, हारीत स्मृति २·११--१४, महाभारत शान्तिपर्व राजधर्मानुशासन पर्व ६०·२७·२९ तथा ३८—३९।

महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद-भाष्य में सेवा को ही शूद्र का मुख्य कर्तव्य माना है।[२] साथ ही उनका यह भी मत है कि वह जन्म सेना होकर गुणकर्मों के आधार पर ही होता है। जो ज्ञान प्राप्त न करके मूर्ख रह जाता है वही शूद्र है।[३] संस्कार विधि में वे लिखते हैं जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये इन ब्रह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना यही एक कर्म करने की परमेश्वर ने आज्ञा दी है।[४] सत्यार्थ प्रकाश में निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि को छोड़ कर तीनों वर्णों की यथावत् सेवा करना शूद्र का कर्तव्य बतलाया है।[५] वहाँ यह भी कहा है 'शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अति प्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से जीविका करे। और द्विज लोग इनके खानपान, वस्त्र स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें अथवा मासिक देवे।[६]

इस प्रकार आर्यसमाज का एक अंग शूद्र सेवा रूपी सहयोग करके अपनी जीविकार्जन करता हुआ समाज के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होता है।

(२१) वेद और शूद्र

वेदेतर साहित्य में कहीं शूद्र की उच्चता तथा कहीं निम्नता के दर्शन होते

१· शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ॥ मनु० ९·३३४

२. शूद्रेषु—सेवकेषु १८·४८। शूद्रम्-प्रीत्या सेवकं शुद्धिकरम् ३०.५। शूद्राश्चैतान् सेवन्ताम् २३·४० तथा द्र०, ३१·११, १४·९ यजुर्वेद

३. शूद्रः—मूर्खत्वगुणविशिष्टो मनुष्यः ॥ ३१·११

४. मनु० १·९१ द्र० संस्कार विधि, गृहाश्रमप्रकरण पृ० १५३

५. सत्यार्थ प्रकाश, समु० ४ पृ० १३३।

६. पाकयज्ञैः स्वयं यजत्येके ॥वही २·१·६०

हैं। उसके सत्य अक्रोध तथा शौच आचार बतलाए हैं। वह पाकयज्ञ कर सकता है, आदि। दूसरी ओर उसे अयज्ञिय,[1] अन्यों से अनुशासित, इच्छानुसार कहीं से भी उठाया जाने वाला तथा पीटने योग्य बतलाया है।[2] धर्म सूत्र उसे श्मशानवत् पवित्र मानते हैं।[3]

किन्तु वेद तो मानवों की दो श्रेणियां करता है। एक आर्य वर्णाश्रम व्यवस्था को मानने वाले-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र एवं दूसरे दस्यु-सदाचार के नियमों पर न चलने वाला, मानवोचित कर्म न करने वाला, अयज्ञीय एवं नास्तिक।[4] शूद्र आर्य है। यदि वेद को शूद्र अभीष्ट न होता तो वह 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' की उद्घोषणा क्यों करता तथा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्[5] का आदेश क्यों देता, जबकि आर्यों के अन्तर्गत शूद्र भी आते हैं। यजुर्वेद में तप-द्वन्द्व सहत तथा शारीरिक श्रम के लिये शूद्र के बनाने की प्रार्थना मिलती है।[6]

वेद तो सब मर्त्तों-मरणधमा मनुष्यों को ऊंचनीच के भेद से रहित कहता है।[7] मानवता की दृष्टि से बड़े छोटे के भेद से रहित ये सब भाई सौभाग्य तथा उत्तम धन की प्राप्ति के लिये बढ़ें।[8] वेद तो सब मनुष्यों के जल पीने तथा भोजन के स्थान एक ही होने का आदेश देता है।[9] सब उत्तम विद्या तथा ज्ञानयुक्त, मिलकर चलने वाले एक धुरा के वाहक, परस्पर सत्यमधुरभाषी, लाभ हानि में एक दूसरे के सहायक तथा एकमत होंगे, ऐसा उपदेश करता है।[10] इस मन्त्र में भी चारों वर्णों में भेद न करके सबको परस्पर सहायक तथा ऐकमत्य होने का सन्देश है वेद में अन्यत्र भी सब के सहयोग, समानता तथा एकता का उल्लेख हुआ है।[11]

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६·१·११
२. अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यो यथाकामवध्यः ॥ ऐतरेय ब्रा० ३५·३
३. श्मशानवच्छूद्रपतितौ ॥ आपस्तम्ब सू० १·९·९
४. विनाह्यार्यान् ये च दस्यवः ॥
५. ऋ० ९·६३·५
६. तपसे शूद्रम् ॥ यजु ३०·५
७. तेअज्येष्ठा आकनिष्ठा स उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः
॥ऋ० ५।५९।६
८. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ॥ऋ० ५·६०·५
९. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः ॥अथर्व० ३·३०·६
१०. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि
॥वही ३·३०·५
११. ऋ १०·१९१·२-४, अथर्व० ६·६४·१-३, तै० ब्रा० २·४·४·४

(२२) शूद्र और वेदाध्ययन

यजुर्वेद के एक मन्त्र में परमेश्वर आदेश देते हैं कि जैसे मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपने स्त्री सेवक आदि और उत्तम लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के लिये भी इस संसार में प्रकट की हुई सुख देने वाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।[१] महर्षि दयानन्द इस मन्त्र के भावार्थ में सबके लिये वेद वाणी का अधिकार मानते हुए लिखते हैं कि **इसमें किसी का अनधिकार नहीं है।** सत्यव्रत सामश्रमी ने भी महर्षि के इस भाष्य को स्वीकार किया है।[२] मानवार्थ भाष्य में इन्दिरा रमण ने महर्षि के इस भाष्य की पुष्टि की है।[३]

सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि ने इसी मन्त्र को उद्धृत किया है। वहाँ 'अरणाय' का अर्थ अतिशूद्र किया है तथा कहा है कि (१) क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? (२) क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे ? (३) जो ईश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता ? (४) जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। और जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है, उसका पढ़ना व्यर्थ है।[४]

पूर्व मीमांसा भी शास्त्र में सबका अधिकार मानता है।[५] महाभारत भी चारों वर्णों के वेद श्रवण का विधान करता है।[६] भविष्य पुराण का मत है कि जो

---

१. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० २६·२ का म० दयानन्द भाष्य द्रष्टव्य

२. शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन 'यथेमां वाचम्' ऐतरेयालोचन पृ० १७

३. वेदाधिकारे शूद्राणां वेदमन्त्रश्च दर्शितः।
स्वामिभिः श्रीदयानन्दैर्वेदेषु श्रमकृत्तमैः ॥
इन्दिरा रमण, मानव धर्मशास्त्रस्य (मनुस्मृतेः) मानवार्षभाष्यम्, प्रथम काण्डम्, पृ० ८३

४. सत्यार्थप्र० समु० ३, पृ० ११०

५. फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥ पू० मी० ६·१

६. श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च पुण्यं महत् स्मृतम् ॥म० भा० शा० पर्व ३२७।४८-४६ सब के लिये वेदाध्ययन के लिये द्र० महाभारत शा० पर्व० १८८·१५ आदि

पवित्र निर्मल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं उन्हें मन्त्र प्रदान करने चाहियें, संकीर्ण धर्म वालों को नहीं।[१] इन प्रमाणों से शूद्र का वेदाध्ययन सिद्ध ही है। यदि किसी स्मृति में इससे विपरीत पाया जाए तो वह प्रमाण श्रुति विरुद्ध होने से प्रमाण कोटि में नहीं आता। श्रुति तथा स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही गरीयसी मानी गई है। अतः भागवत का यह कथन कि 'स्त्री शूद्र तथा वैश्य के कान में वेद न पड़ने चाहिये',[२] श्रुति विरुद्ध होने से सर्वथा अमान्य है। यह बात कि यदि शूद्र वेद सुने तो रांगा तथा लाख से उसके कान भर दिये जाएं, वेद मन्त्र बोलने पर जिह्वा काट ली जाए तथा वेद मन्त्र धारण करने पर शरीर चीर दिया जाए, सर्वथा वेद विरुद्ध होने से अमान्य हैं, चाहे उसे कितने ही आचार्य मान्यता दें या प्रकरण रूप में अपने ग्रन्थों में उद्धृत करें।[३]

अतः शूद्र के वेदाध्ययन के विषय में यही कह सकते हैं कि मानव मात्र के लिये शक्ति तथा अधिकार इन दोनों में से शक्ति के अभाव में तो वेदाध्ययन का निवारण हो सकता है, किन्तु अधिकार के अभाव में नहीं। अतः वेदाध्ययन में सबका अधिकार है। शूद्र को उससे वंचित नहीं किया जा सकता। जो वेद पढ़ने में असमर्थ है वह शूद्र होगा न कि शूद्र होने से वेद को अध्ययन से वंचित किया जाएगा। जैसे पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार स्वतः होजाता है उसी प्रकार परमात्मा के रचित वेद में सबका अधिकार है किन्तु शूद्र में भी वेदानुमोदित कर्तव्य भावना, उत्तम खानपान आदि आर्योचित आचार की अपेक्षा है।

(२३) शूद्र तथा यज्ञाधिकार

यद्यपि कुछ विद्वान् शूद्र को यज्ञ का अधिकारी नहीं मानते, किन्तु वेद सब मनुष्यों को यज्ञ की आज्ञा देता है। वेद में "पञ्चजना' पद आया है। जिसका अर्थ कुछ आचार्यों के अनुसार गन्धर्व, पितर, देव, असुर तथा राक्षस है तथा औपमन्यव के अनुसार चारों वर्ण तथा पांचवां निषाद है। निघण्टु में यह पद मनुष्य का वाचक है।[४] तीनों ही अर्थों के अनुसार पञ्चजना पद मानवमात्र का सूचक है। वेद में अनेक स्थलों पर पञ्चजनों के यज्ञ करने का उल्लेख है। यथा हि—

---

१. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु सङ्कीर्णधर्मिणाम्॥
भविष्य पुराण, उत्तरपर्व ४, अ० १३ श्लोक ६२

२. स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा॥ भागवत १.४.२५

३. अथ हास्य वेद मुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रं प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गोतम ध० सू० प्रश्न २. अ० ३ सू० ४। शंकर-रामानुज तथा माध्व का मान्य

४. निघण्टु २.३.

(क) मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टि शवसे । स देवान् विश्वान् बिभर्ति ॥[१]

(ख) आयुं न यं नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्चजनाः ॥[२]

(ग) वीळुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥[३]

(घ) पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥[४]

(ङ) पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम् ॥[५]

महाभारत का कथन है कि इन कर्मों से भिन्न हुए द्विज वर्णान्तर को प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनकी धर्म तथा यज्ञ की नैत्यिक क्रिया का प्रतिषेध नहीं है।[६] चारों वर्णों के लोग इस यज्ञ का वहन करते हैं। हारीत तथा गोतम पाकयज्ञों के करने का शूद्रों के लिये विधान करते हैं।[७] विष्णुस्मृति (१·६) में कहा है—पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति (१·१२१) में भी विष्णु की भाँति नमस्कार मन्त्र से पञ्चयज्ञों का विधान शूद्र के लिये किया गया है—नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥

अतः वेद के अनुसार शूद्र को यज्ञ का भी अधिकार है, आर्यत्वात् ।

(२४) शूद्र और यज्ञोपवीत

शूद्र के यज्ञोपवीत के विषय में प्रायः आचार्य सहमत नहीं हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध विद्या से माना गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१·१·७) कहता है—

उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः ॥

उपनयन विद्याग्रहण के प्रयोजन वाले का श्रुतिविहित संस्कार है, महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में विद्या पढ़ना अनिवार्य बतलाया है तथा बालकों का यज्ञोपवीत पिता के घर तथा आचार्यकुल दोनों में करने का विधान किया है। जब प्रत्येक बालक का पढ़ना अनिवार्य होगा तथा सब बालकों का आचार्यकुल में यज्ञोपवीत होगा तो शूद्र बालक का भी यज्ञोपवीत अवश्य होगा। यह दूसरी बात है कि

---

१. ऋ० ३·५६·८ ।

२. ऋ० ६·१२·४॥

३. ऋ० १०·४५·६॥

४. ऋ० १०·५३·४॥ अन्यच्च ऋ० ३·२१·५, ६·१४·२ ।

५. इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तर्गताः ।
धर्मो यज्ञः क्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥महाभा० शान्तिपर्व १८८·१४

६. चत्वारो वर्णा यज्ञमिमंवहन्ति ॥ व ही वनपर्व १३४।११

७. पाकयज्ञविधानेन यजेद् देवमतन्द्रितः ॥ हा० स्मृति २·१२॥ गौतमधर्म २·१·६७

पढ़ाने से भी विद्या न आने तथा आर्योचित सन्ध्या वन्दन न करने पर व्यक्ति यज्ञाधिकार से वंचित हो जाता है।

भारतीय समाज शास्त्र नामक पुस्तक में धर्मदेव सिद्धान्तालंकार ने पारस्कर गृह्य काण्ड २ पृ० ६० को उद्धृत करते हुए सदाचारी शूद्रकुलोत्पन्नों के लिये उपनयन को विहित बतलाया है।[१] वहाँ गरुड़ पुराण आचार काण्ड में शूद्रों के लिये 'शण वल्कज' (सन आदि से बने) के यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज के उदारमना लोगों ने शूद्रों को यज्ञोपवीत का अधिकार भी दिया है। चरित्रवान् शूद्र भी द्विजों की भाँति गायत्रीजपकर सकता है।[३]

(२५) शूद्रों से प्रेम और सहानुभूति

वेद विश्वबन्धुत्व का पोषक है। वह सब प्राणियों को मित्रवत् प्रेम दृष्टि से देखने का उपदेश करता है।[४] मिलकर रहने, प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने, मन को ज्ञानवान् बनाने तथा एक प्रभु के भक्त होने आदि की सुन्दर शिक्षा देता है।[५] वेद सहृदयता तथा सौमनस्य का शिक्षक है, खाने पीने के स्थानादि में भेदभाव वेद को स्वीकार नहीं है।[६] वेद सबसे प्रेम करने की शिक्षा देता है। यजुर्वेद कहता है "हमारे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में प्रेम तथा कान्ति भरो।[७] अथर्व कहता है—मुझे देवों-विद्वानों-ब्राह्मणों में प्रिय बनाओ, राजाओं-क्षत्रियों में प्रिय बनाओ, सब देखने वालों का प्रिय बनाओ तथा वैश्य और शूद्र वर्ग में भी प्रिय बनाओ।[८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद शूद्र से प्रेम सहानुभूति और उसका प्रिय

---

१. शूद्राणामदुष्ट कर्मणामुपनयनम्।।भारतीय समाजशास्त्र पृ० ३७ प्रथमावृत्ति

२. कुशसूत्रं द्विजानां स्याद् राज्ञां कौशेयपट्टकम्। वैश्यानां चीरणं क्षौमं शूद्राणां शणवल्कजम्।।वही, पृ० ४०

३. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा चरितव्रतः। गायत्रीं मम वा देवीं सावित्रीं वा जपेत्ततः।। वृद्ध गौतम अ० १६ भारतीय समाज शास्त्र पृ० ३८

४. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।। यजु० ३६·१८

५. सं गच्छध्वं सं वदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्० आदि ऋ० १०·१९१·२-४

६. सहृदयं सांमनस्यम्०, समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः० आदि अथर्व ३·३०·१-७ द्रष्टव्य

७. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।१८·४८

८. प्रियमा कृणु देवेषु प्रियं राजसुमाकृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।अथर्व० १९·६२·१

बनने का उपदेश देता है। चाहे प्रेम एवं कान्ति भरने की प्रार्थना हो या सबका प्रिय बनने की, वेद शूद्र को तीनों वर्णों के साथ ही रखता है। इस प्रकार वेद में चारों वर्णों में परस्पर प्रेम सहानुभूति तथा ऐक्य के दर्शन होते हैं। शूद्र के आने पर उससे आरोग्य पूछा जाता है।[१] आपत्काल में ब्राह्मण भी शूद्र वृत्ति अपना सकता है।[२]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि चारों वर्णों के लोग अपने-अपने कर्तव्य कर्मों को करते हुए परस्पर प्रेम से रहते हैं जैसे एक गोष्ठ में गाएं।[३] न किसी में ऊंचनीच की भावना आती है और न छुआछूत की। सब भाइयों की भाँति मिलकर रहते हैं तथा समाज रूपी कुटुम्ब की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। ब्राह्मण शिक्षक बनकर अज्ञान को मिटाता है, क्षत्रिय रक्षक बनकर अन्याय को, वैश्य पोषक बनकर अभाव को तथा शूद्र सेवक बनकर असहयोग को मिटाता है। यही वैदिक वर्ण व्यवस्था है तथा इसी को महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में उल्लिखित किया है।

—:०:—

१. आरोग्यं शूद्रम् ॥ आप० ध० सू० १·१४·२६ तथा अन्त्यं (आरोग्यं) शूद्रस्य ॥ गौतम ध० सू० १·५·३८

२. तदप्येके प्राण संशये ॥ वही १·७·२३

३. नानाधियो वसुयवो।

तृतीय अध्याय

आश्रम व्यवस्था

१. महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में वर्णित आश्रम व्यवस्था

वैदिक धर्म के अनुसार मानव जीवन को दो प्रकार से विभक्त किया गया है। १. कार्य की दृष्टि से, जिसे वर्ण कहते हैं तथा २. आयु की दृष्टि से, जिसे आश्रम कहते हैं।

(२) आश्रम शब्द की परिभाषा

आश्रम शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक 'श्रमु तपसि खेदे च[1] धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। अत: मानव का वह जीवन-क्रम जिसमें ज्ञान बल ऐश्वर्य धर्म तथा मुक्ति आदि के लिये मर्यादा पूर्वक प्रयास किया जाए आश्रम कहलाता है। डा० पी० वी० काणे के अनुसार, आश्रम शब्द श्रम से बना है (आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रम:) अर्थात् एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के टीकाकार हरदत्त मिश्र लिखते हैं—आश्राम्यन्त्येषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमा:[3]। ये आश्रम इसलिये कहलाते है कि इनमें श्रेयस् के इच्छुक लोग खूब श्रम करते हैं। महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं कि— जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ कर्म किए जायें उनको आश्रम कहते हैं।[4]

(३) आश्रम की महत्ता

बौधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्द स्वामी के अनुसार स्नातक को समावर्तन के तुरन्त बाद विवाह करना चाहिये तथा गृहाश्रम में प्रवेश करना चाहिये, चुप न बैठे। क्योंकि द्विज को बिना आश्रम के एक दिन भी नहीं रहना चाहिये। आश्रम के बिना रहता हुआ व्यक्ति प्रायश्चित का अधिकारी है। आश्रम-च्युत व्यक्ति जप, होम, दान तथा विप्रयोजन विषयक फल को प्राप्त नहीं कर

---

१. माध्वीय धातुवृत्ति दिवादि० १०२ पृ० ४३५। क्षीरतरङ्गिणी ४.६७ पृ० २१६। आख्यातिक संख्या १२४२

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, अनु० काश्यप, प्रथम भाग, अध्याय ८ पृ० २६७

३. आप० ध० सू०, प्रश्न २, पटल ६, सू० १

४. आर्योद्देश्य रत्नमाला ४५

सकता ।[1] व्यक्ति किसी आश्रम में ही उत्पन्न होता है तथा किसी आश्रम में ही मरता है । अतः सब आयु के व्यक्ति का आश्रम से सम्बन्ध रहना अनिवार्य है । बाल्यावस्था के कर्त्तव्य बोध रहित दिन भी आश्रम के ही अन्तर्गत आते हैं । २४ वर्ष का ब्रह्मचारी उन दिनों को आयु से पृथक् नहीं कर सकता । अतः आश्रम की महत्ता एवं गरिमा निर्विवाद है । पी० वी० काणे ठीक ही लिखते हैं—आश्रम सिद्धान्त यह बतलाता था कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है । उसे अपने जीवन को किस प्रकार ले चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या-क्या तैयारियां करनी हैं । निःसन्देह आश्रम सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी, भले ही यह भली-भाँति कार्यान्वित न की जा सकी, किन्तु उसके उद्देश्य बड़े ही महान् एवं विशिष्ट थे ।[2]

(४) आश्रमों की संख्या एवं क्रम

आश्रम शब्द अपने प्रारम्भिक काल से ही चार की संख्या में उपलब्ध होता है, किन्तु क्रम के विषय में थोड़ा बहुत परिवर्तन भी मिलता है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. अथ ह जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच, भगवन् सन्यासमनु ब्रूहीति । स हो वाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।।[3]

२. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वरश्चाश्रमाः पृथक् ।। मनु० १२·९७

३. ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजकः ।। वशिष्ठ धर्मसूत्र ७.१.१२

४. गौतम ने इनके नाम दिये हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु तथा वैखानस ।। गौ० ध० ३.२

५. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति ।। आपस्तम्ब ध० २.९.१

६. इसी प्रकार आश्रमोपनिषद् (१), संन्यासोपनिषद् द्वितीय (१३), कुण्डिनोपनिषद् (१) भस्मजाबालोपनिषद् (अध्याय १) आदि में चार आश्रमों का उल्लेख हुआ है ।

---

१. ननु समावर्तनानन्तरमेव भार्यामधिगच्छेत्, न तु तूष्णीं स्थातव्यम् । तथा हि—

अनाश्रमो न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।
आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते नरः ।।
जपेहोमे तथा दाने स्वाध्याये विप्रभोजने ।
नासौ फलमवाप्नोति कुर्वाणोऽप्याश्रमच्युतः ।। इति

२. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० २६३

३. जाबालोपनिषद् खण्ड ४

महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका[1], सत्यार्थ प्रकाश[2] तथा संस्कार विधि[3] आर्योद्देश्यरत्न[4] माल में चार आश्रम स्वीकार किये हैं। मनु० (१२.९७.६-९६) ने संन्यास तथायति शब्द संन्यासी के लिये प्रयुक्त किए हैं। वशिष्ठ धर्मसूत्र (७.१.१२ तथा ११.३४) में उसी अर्थ में परिव्राजक तथा यति शब्द आये हैं। गौतम ने संन्यासी को भिक्षु तथा वानप्रस्थ को वैखानस कहा है तथा भिक्षु शब्द वैखानस से पूर्व प्रयुक्त किया है। आपस्तम्ब ने ब्रह्मचारी के लिये आचार्य कुल तथा संन्यासी के लिये मौन शब्द का उल्लेख किया है तथा क्रम रखा है गृहस्थ आचार्यकुल, मौन एवं वानप्रस्थ।

इस प्रकार सभी आचार्य चार आश्रमों की मान्यता रखते हैं।

एक उल्लेखनीय प्रसंग

एक उल्लेखनीय बात यह है कि आश्रमोपनिषद् ने चार आश्रमियों के १६ भेद किये हैं, जो प्रत्येक के चार चार हैं। यथा—

(क) ब्रह्मचारी—गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य तथा बृहत् (नैष्ठिक)।

(ख) गृहस्थ—वार्तावृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर तथा घोर संन्यासिक।

(ग) वानप्रस्थ—वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य तथा फेनप।

(घ) संन्यासी—कुटीचर, बहूदक, हंस तथा परमहंस॥[5]

(५) आश्रमों का उद्देश्य

इन आश्रमों का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति है। जैसाकि प्रातः सायं सन्ध्या में तीव्र आकांक्षापूर्वक इसे प्रतिदिन दुहराया जाता है।[6] इनमें से शरीर की तृप्ति के लिये अर्थ, मनस्तृप्ति के लिये काम बुद्धि की तृप्त्यर्थ धर्म तथा आत्मतृप्त्यर्थ मोक्ष की नितान्त अपेक्षा है। इसीलिये इन्हें आश्रमों का लक्ष्य माना गया है। डा० काणे भी इस विचार से सहमत हैं कि मानव जीवन के अस्तित्व के ये चार लक्ष्य माने गये हैं।[7] ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में महर्षि दयानन्द भी लिखते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों

---

१. वर्णाश्रम विषय पृ० २५८

२. पञ्चम समुल्लास, पृ० १९८

३. तत्तत् प्रकरण

४. संख्या ४६

५. आश्रमोपनिषद् १–४ पृ० ६५१–६५२

६. हे ईश्वर दयानिधे भवत्कृपयानेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

७. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ० २६६

पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चारों आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है ।[1]

(६) आश्रमों के करणीय कर्म

आश्रम के कर्त्तव्यकर्मों का उल्लेख भी महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों एवं उनके यजुर्वेद भाष्य में मिलता है । यथा—

(क) जो सद्विद्यादि शुभगुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल बढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्य, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सद्व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहस्थाश्रम, जो विचार के लिये वानप्रस्थ और जो सर्वोपकार के लिये संन्यास आश्रम होता है ।[2]

(ख) विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार का त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिये संन्यास आश्रम है ।[3]

(ग) मनुष्यों को चाहिये कि प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या तथा शिक्षा का ग्रहण, दूसरे गृहाश्रम से धन का सञ्चय, तीसरे वानप्रस्थाश्रम से तप का आचरण और चौथे संन्यास लेकर वेदविद्या और धर्म का नित्य प्रकाश करें ।[4]

इस प्रकार विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण, जितेन्द्रियता से आत्म शक्ति-विकास, शारीरिक बल, मानसिक तथा बौद्धिक विकास के लिये ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, विद्यादि सदव्यवहारों को जीवन में उतारने तथा धन संचय आदि के लिये गृहस्थाश्रम, विचार, ध्यान, विज्ञान वृद्धि स्वाध्याय एवं तपश्चर्यापूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए परलोक की योजना बनाने के लिये वानप्रस्थ तथा प्राणि मात्र के उपकार के लिये वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार, धर्मव्यवहार के ग्रहण, दुष्ट व्यवहार के छोड़ने छुड़वाने तथा सबको सन्देह को निवारण करके उन्हें सत्य के दर्शन कराने के लिये संन्यास आश्रम धारण किया जाता है ।

(७) आश्रमों का वेदों में उल्लेख

आश्रम शब्द संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु

---

१. वर्णाश्रम विषयः, पृ० २५६

२. आर्योद्देश्यरत्नमाला ४६ ।

३. सत्यार्थ प्रकाश, समु० ५, पृ० १६८

४. दयानन्द यजुर्वेद भाष्य (१२·१८)

उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में इसका विशेष उल्लेख हुआ है।[1]

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आश्रम शब्द प्राप्य न होने पर भी उनमें चारों आश्रमों की जीवन पद्धति का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है।

ब्रह्मचर्य—

ब्रह्मचर्य आश्रम को धारण करने वाले ब्रह्मचारी का उल्लेख ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से मिलता है। यथा—

(क) ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्॥ ऋ० १०.१०९.५

(ख) ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे॥ अथर्व० ११.५.१

(ग) ब्रह्मचारी समिधामेखलयाश्रमेण लोकास्तपसा पिपर्ति। वही ११.५.४

(घ) पूर्वो जातो ब्रह्मणा ब्रह्मचारी॥ वही ११.५.५

(ङ) ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः॥ वही ११.५.६

(च) ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकम्॥ वही ११.५.७

इस प्रकार इस एक ही सूक्त में, जिसका कि देवता ही ब्रह्मचारी है, ब्रह्मचर्य से सम्बद्ध शब्दों का २८ बार प्रयोग हुआ है।

महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य में 'हिरण्यम्' का अर्थ 'तेजस्वरूप ब्रह्मचर्य किया है।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य को हिरण्य कहा गया है।[3] अन्यत्र भी रेतस् के साथ हिरण्य का सम्बन्ध दिखलाया गया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का उल्लेख यजुर्वेद में भी स्पष्ट है।

---

१. द्र० उपनिषद्—शाट्यायनीय ६। आश्रम १ परब्रह्म १। सामरहस्य पृ० २३१ तथा २७९, २८८। अवधूत २। वराह १.१७। मैत्रायणी ४.३। संन्यास १ तथा १३। कुण्डिका १। भस्मजावाल अ० १।

स्मृति—मनु ६.८७ तथा १२.९७।

धर्मसूत्र—बौधायन २.१०. १५–१६, १३.३.२०, ३.१०.१। वैखानस १.१.१०, १ ६.२, १.९.२। वशिष्ठ ७.१,८.१४। आपस्तम्ब २.११.१, २.९.१, २.२४.१४, २.३३.९। हिरण्यकेशि २.५.१०९, २.५, १७८, २.५.१६२। गौतम ११.९, ११,१३। विष्णु १.४८ बृहद्देवतानुक्रमणी ५.६४, ६.९९। सुपर्णाध्याय ७.१। पाणिनीय गणपाठ २.४.३१।

२. रेतोहिरण्यम्॥ तैत्ति० ३.८.२.४।

३. अथर्व ५.२८.६। शत० २.१.१५, २.२.३.२८, १३.१.१३, १४.१.३.२९ तैत्ति० १.१.३.८, ३.८.२.४॥

गृहस्थ—

गृहस्थ का उल्लेख भी वेदों में मिलता है। ऋग्वेद १०.८५ सूक्त तथा अथर्ववेद का चतुर्दश काण्ड पूर्णरूपेण गृहस्थ का उल्लेख करते हैं। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर अग्नि को गृहपति कहा गया है।[१] किन्तु अथर्ववेद में गृहस्थ को गृहपति नाम दिया गया है।[२] यजुर्वेद में गृहस्थ व्यक्ति को 'गृहः' कहकर गृहस्थ जीवन से भयभीत न होने का उपदेश है।[३] सामवेद में कहा गया है कि 'हम दानशील तथा अग्रणी लोग पत्नी तथा सन्तान वाले होकर ज्ञानमय प्रभु की उपासना करें।[४]

वानप्रस्थ—

वानप्रस्थ का उल्लेख ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त (१०.१४६) में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस मन्त्र का ऋषि भी 'ऐरम्मदो मुनिः' है। मुनि शब्द वानप्रस्थ के लिये ही प्रयुक्त होता है। वहाँ वानप्रस्थिनी स्त्री न तो मिलने वालों से ग्राम चर्चा करती है और न भय का अनुभव करती है।[५] वह किसी की हिंसा नहीं करती और स्वादु फलों का भोजन करके इच्छानुसार तप, साधना तथा स्वाध्याय में रत रहती है।[६] महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में अथर्व० (९.५.१) को उद्धृत करते हुए कहा है—हे गृहस्थ! प्रकर्षता से जानता हुआ तू इस वानप्रस्थ का आरम्भ कर, अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला। देखने योग्य वानप्रस्थ को प्राप्त हो। बहुत प्रकार के बड़े-बड़े अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को तैरकर अर्थात् पृथक् होके अपने आत्मा को अजर अमर जान तीसरे दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को आक्रमण अर्थात् रीति पूर्वक आरूढ हो।[७]

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि वेद में वानप्रस्थ का उल्लेख है। मन्त्रों में अरण्यानी पद से स्त्री के उल्लेख का यह भी कारण हो सकता है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री को घर तथा सन्तान से अधिक मोह होता है। जब वह भी इन समस्त बन्धनों

---

१. ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० २.१.२
२. पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ अथर्व० १४.१.५१
३. गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ॥ यजु० ३.४१
४. जनीयन्तोन्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे ॥ साम उ० १३. ३.८.१
५. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि नत्वा भीरिव विन्दन्ती ३ ॥ ऋ० १०.१४६.१
७. न वा अरण्यानि हन्त्यन्यचेन्नभि गच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते ॥ ऋ० १०.१४६.७।
८. संस्कारविधि- वानप्रस्थ प्रकरण।

को छोड़कर वन की राह पकड़ सकती है, ग्राम की बात तक नहीं करती तथा निर्जन वन में रहने में भय नहीं मानती तब पुरुष क्यों पीछे रहने लगा ।

संन्यास— 10988

संन्यासाश्रम का स्पष्ट संकेत सामवेद के महानाम्न्यार्चिक के अष्टम मन्त्र में 'संन्यासे' क्रिया द्वारा उपलब्ध होता है ।[1] ऋग्वेद (७.१३.१) के 'यतये' पद का अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'यतमानाय संन्यासिने' किया है । यति शब्द का संन्यासी अर्थ पीछे देख ही चुके हैं । 'यतीनां काञ्चनं दत्वा'[2] आदि में भी यति का अर्थ संन्यासी प्रसिद्ध ही है । ऋग्वेद (७.१३.३) में आया 'परिज्मा' शब्द परिव्राजक का ही पर्याय है । इसका अर्थ महर्षि ने भी 'परितः सर्वतोऽजति गच्छति' किया है । इस सूक्त तथा इससे अगले सूक्त (७.१४) के दो मन्त्रों में संन्यास धर्म का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि चारों वेदों में चार आश्रमों के नामों तथा कार्यों का उल्लेख मिलता है ।

८. आश्रमों का ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख

ब्रह्मण ग्रन्थों में भी चारों आश्रमों के नाम तथा कार्य का उल्लेख मिलता है । गोपथ ब्राह्मण के द्वितीय की १ से ८ कण्डिका तक एवं चतुर्थ प्रपाठक की २४वीं कंडिका से यह स्पष्ट है । गोपथ के द्वितीय काण्ड में ब्रह्मचर्य का उत्तम चित्रण मिलता है । वहाँ पूर्व भाग के चतुर्थ प्रपाठक की प्रथम कण्डिका गृहपति की ओर संकेत करती है । अथर्ववेद में जिसका गोपथ ब्राह्मण है, गृहपति का ही उल्लेख है । शतपथ ब्राह्मण १४.७.२.१५–१६ में गृहस्थ, १४.७.२.१८ में वानप्रस्थ, १४.७.१६ में ब्रह्मचर्य तथा १४.४.२.१ में वानप्रस्थ तथा संन्यास विषयक वर्णन उपलब्ध होता है । अतः ब्राह्मण ग्रन्थ भी चारों आश्रमों का उल्लेख करते हैं ।

९. ब्रह्मचर्य

आश्रमों की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम है । इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक, नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षा को ग्रहण कर शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक एवं अन्य विविध जीवनोन्नायिक शक्तियों का अर्जन करता है । गणित में जिस प्रकार प्रथम जोड़ सिखाया जाता है, उसी प्रकार इस आश्रम में व्यक्ति शक्ति, ज्ञान और विविध विद्या विज्ञानों का अर्जन करता है । जीवन का यह प्रथम चरण जितना सशक्त, सुव्यवस्थित, अनुशासित एवं समुन्नत होगा उतना ही आगामी जीवन सुखद एवं उन्नत होगा तथा आगे आने वाले आश्रमों का निर्वाह सरलता पूर्वक होगा । यह

---

१. नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥

२. लघुपाराशर स्मृति १.५१ ।

आश्रम समस्त आश्रमों की नींव है। इसकी सुदृढ़ता पर ही जीवन भवन की भित्ति सुदृढ़ होगी।

ब्रह्मचर्य का अर्थ तथा व्युत्पत्ति—

ब्रह्मचारी पद 'बृह बृहि वृद्धौ'[१] धातुओं से बृंहेर्नोच्च[२] सूत्र द्वारा निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्द तथा 'चर गतौ भक्षणे च,[३] धातु से 'णिनि' प्रत्यय लगकर निष्पन्न चारी शब्द से मिलकर बनता है। ब्रह्म का अर्थ बड़ा तथा 'चारी' का अर्थ ज्ञान गमन तथा प्राप्ति करने वाला है।[४] अतः ब्रह्मचारी का अर्थ हुआ, वीर्यरक्षण करता हुआ ब्रह्म एवं वेद में ज्ञान पूर्वक गमन करता हुआ ब्रह्म की प्राप्ति में प्रयत्नशील व्यक्ति।

कार्य तथा भावना की अभिव्यंजक ब्रह्मचारी शब्द की व्युत्पत्ति आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है। यथा—

क. ब्रह्मचर्यं चरतीति ब्रह्मचारी ।। गौतम धर्म सूत्र का मस्करिभाष्य ब्रह्मण एव विषये निस्पृहश्चरतीति ब्रह्मचारी ।। १.३.२ ।

ख. ब्रह्म वेदस्तदर्थं व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी ।। आपस्तम्ब धर्म सूत्र की उज्ज्वला टीकाकार हरदत्तमिश्र १.१.२.११ ।

ग. 'ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलमस्य स तथोक्तः।[५]
'ब्रह्मचर्यधर्मेण युक्तः।[६]
ब्रह्मचर्यनियमवान्।[७]
ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थम् आचर्यं आचरणीयं समिदाधानभैक्षचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारि भिरनुष्ठीयमान कर्म ब्रह्मचर्यम् ।।[८]

घ. ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी ।।[९]

---

१. क्षीरतरङ्गिणी, भ्वादिगण, धातु संख्या ४८५ पृ० ६६, आख्यातिक धातु संख्या ७५६—७५७ ।

२. उणादिकोश ४.१४६ ।

३. चर भक्षणे च, भ्वादि धातुसंख्या ५७९ ।

४. गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ० १८ ।

५. अथर्व० ११.५.१ का सायणभाष्य ।

६. वही ११.५.६ ।

७. वही ११.५.१३ ।

८. वही ११.५.१७ ।

९. म० दयानन्द—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वर्णाश्रमविषयः, अथर्व ११.५.५ की व्याख्या में ।

इन विविध निरुक्तियों में मस्करिभाष्य में सामान्य निर्वचन के साथ 'निःपृह' शब्द की विशिष्टता है। हरदत्तमिश्र की टीका में 'व्रत' शब्द अधिक गम्भीरता का द्योतन करता है। सायण ने सामान्य निरुक्ति के अतिरिक्त ब्रह्मचारी के नियमों की की ओर संकेत किया है। व्रत या नियमों के टूटने की भी सम्भावना रहती है अतः आचार्यसायण तथा महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त स्वभाव वाचक शीलं शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है जिसका भाव है कि वेद का स्वाध्याय, ब्रह्म की उपासना तथा वीर्य-रक्षण उसका स्वभाव बन चुका है। अतः इन दोनों व्युत्पत्तियों में अधिक गरिमा है।

(१०) ब्रह्मचर्य का महत्व

ब्रह्मचर्य जीवन की सुगन्धि है। यह न केवल ब्रह्मचारी अपितु राजा, आचार्य[1] कन्या[2] आदि सभी के लिये आवश्यक है। ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवों ने मृत्यु को मार भगाया।[3] आचार्य अभयदेव लिखते हैं—कोई भी शासन—राज्य शासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय या ब्राह्मण का शासन—ब्रह्मचर्य के बिना नहीं चल सकता।[4] शतपथ ब्राह्मण तथा बौधायन धर्म सूत्र ने ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को दीर्घसत्र करने वाला बतलाया है।[5]

यजुर्वेद भाष्य में ब्रह्मचर्य की महत्ता का उल्लेख करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—हे मनुष्यों ! जो विद्वानों का प्रथम अवस्था वा ब्रह्मचर्य आश्रम में उत्पन्न हुआ बल पराक्रम है उसको न अन्यों को पीड़ा विशेष देकर अपनी ही रक्षा करने हारे और न प्राणियों के रुधिरादि को खाने वाले हिंसक म्लेच्छाचारी दुष्टजन उल्लंघन करते हैं। जो मनुष्य इस चतुर को प्राप्त होने योग्य तेजःस्वरूप ब्रह्मचर्य को धारण वा पोषण करता है वह विद्वानों में अधिक अवस्था को प्राप्त होता है और वह मननशील जनों में बड़ी अवस्था को प्राप्त करता है। उन्होंने इस मन्त्र के भावार्थ में भी ब्रह्मचर्य का महत्व दिखाया है।[6] आजीवन ब्रह्मचारी वह लिखते हैं-देखो, जिसके

---

१. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ अथर्व० ११.५.१७।

२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥ वही ११.५.१५।

३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥ वही ११.५.१९॥

४. वैदिक ब्रह्मचर्यगीत पृ० १२२।

५ दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति॥ शत० ११.३.३.२।
दीर्घसत्रं ह वा एव उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति॥ बौधा० ध० १.२.४.७

६. न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ यजु० ३४.५१ पदार्थ, भावार्थ।

शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब उसको आरोग्य बल पराक्रम बुद्धि बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है ।[१] जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता हैं वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त हो के निश्चित रोग रहित होता हैं ।[२] प्रथम ब्रह्मचर्य श्रम, जो सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं ।[३]

इतने महत्वशील ब्रह्मचर्य का महत्व निर्विवाद है ।

(११) ब्रह्मचर्य की तीन कोटियां

महर्षि के वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की तीन कोटियाँ है । इनकी अवधि २४, ४४ तथा ४८ वर्ष है तथा इनके पालक ब्रह्मचारी क्रमशः वसु, रुद्र तथा आदित्य कहलाते हैं । उन्होंने इसे कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम ब्रह्मचर्य भी कहा हैं ।[४] छान्दोग्योपनिषद् ने मानव जीवन को यज्ञ मानकर इस उपर्युक्त ब्रह्मचर्य की अवधि क्रमशः प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन है तथा इनकी तुलना क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती के क्रमशः २४, ४४ तथा ४८ अक्षरों से की है ।[५] संस्कार विधि के वेदारम्भ संस्कार में भी इसे उद्धृत किया गया है ।

यजुर्वेद में तीनों ब्रह्मचारियों का उल्लेख

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में कतिपय स्थलों पर तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख हुआ है । यथा—

१. वसवः—कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्येण गृहीतविद्याः ।
रुद्राः—कृतेन चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः ।
आदित्याः—समाचरितेनाष्टाचत्वारिंशद्वर्ष परिमितब्रह्मचर्येण गृहीतसमस्त विद्याः ।

२. वसुभिः—अग्न्यादिभिः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्वा सह वर्तमाना ।
रुद्रैः—या प्राणैः कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैर्वा सह वर्तते स सा वा ।
अदित्यैः—संवत्सरस्य मासैः कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्यैः सह वा वर्तमाना ।[६]

३. वसुमते—जिस कर्म में २४ वर्ष ब्रह्मचर्य कर अच्छे-अच्छे विद्वान् होते हैं ।
रुद्रवते—जिसमें ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य सेवन करते हैं ।

---

१. सत्यार्थ पु०, समु०२ ।
२. संस्कार विधि, वेदारम्भप्रकरण ।
३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ।
४. सत्यार्थ प्रकाश समु० ३.
५. यजु० ६.३४ का म. द. भाष्य ।
६. यजु० ५.११ पदार्थ ।

आदित्यवते—जिसमें ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य सेवन कर सूर्य सदृश परम विद्वान् होते हैं[१]।

४. वसव:—२४ वर्ष ब्रह्मचर्य से रहने वाले विद्वान्।

रुद्रा:—रुद्रा संज्ञक ४४ वर्ष ब्रह्मचर्य सेवनहारे विद्वान् लोग।

आदित्या:—४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करके पूर्ण विद्या और बल की प्राप्ति से आप्त सत्यवादी धर्मात्मा विद्वान् लोग[२]।

यजुर्वेद भाष्य में एक स्थल पर वसु आदि ब्रह्मचारियों के नाम क्रमशः अग्नि, रुद्र तथा बृहस्पति आए हैं[३]।

वसु आदि का उल्लेख यजुर्वेद में अन्यत्र भी हुआ है[४]। एक मन्त्र में वस्वी, अदिति तथा रुद्रा का उल्लेख हुआ है, उनका सम्बन्ध भी भाष्य में वसु आदित्य तथा रुद्र ब्रह्मचारियों से दिखलाया है[५]।

दो ब्रह्मचारियों का उल्लेख

यजुर्वेद भाष्य में एक मन्त्र में वसु तथा रुद्र ब्रह्मचारियों का उल्लेख हुआ है। वहाँ ब्रह्मचारिणी युवती को इन ब्रह्मचारियों से शिक्षा पाने वाली बतलाया है[६]।

एक ब्रह्मचारी का उल्लेख

कतिपय मन्त्रों में किसी एक ही ब्रह्मचारी का उल्लेख मिलता है। इनमें कहीं केवल वसु[७], कहीं रुद्र[८] तथा कहीं आदित्य[९] का नाम आया है।

अन्यत्र ब्रह्मचारी के चार भेद

वैखानस धर्म प्रश्न में ब्रह्मचारी के चार भेद बतलाए हैं जिन्हें गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य तथा नैष्ठिक कहा गया है[१०]। इन्हीं को आश्रमोपनिषद् ने गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य तथा बृहत् कहा है।[११] वहाँ इन भेदों को सविस्तार लिखा है।

---

१. ६·३२ पदार्थ:।

२. ११·५८ प०।

३. ७·४७।

४. द्र० ११.६०,६५; १२.४४; १४.२०,२५; २३·८; २८·४ तथा २९.८ आदि।

५. ४.२१।

६. ६.२१।

७. १८.५६।

८. ४·२०।

९. ८.१, ९.२६, १७.४१, २५.२२ भावार्थ।

१०. वै० ध० प्र० १.३.१।

११. अश्रमोप० १।

ब्रह्मचारी के दो भेद

कुछ आचार्यों ने ब्रह्मचारी को दो भागों में विभक्त किया है। १—नैष्ठिक—जो आजीवन ब्रह्मचारी रहे[1] तथा, २—उपकुर्वाण—जो नियत समय पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर पुनः गृहस्थ आश्रम में जाए[2]।

(१२) ब्रह्मचारी के कर्तव्य

ब्रह्मचारी का जीवन तपोमय होता है। जैसे पृथिवी जितनी ग्रीष्म से सन्तप्त होती है, उतना ही वर्षा का आनन्द आता है, इसी प्रकार ब्रह्मचर्यावस्था की तपस्या आगामी जीवन में आनन्ददायक होती है। महर्षि दयानन्द ब्रह्मचारी के लिये विलासी जीवन युक्त नहीं समझते। वे विद्याध्ययन के समय राजकुमार तथा राजकुमारी तक को तपस्वी जीवन विताने का उल्लेख करते हैं[3]। ब्रह्मचारी के नियम स्मृतियों[4], सूत्र-ग्रन्थों[5] आदि में विशदरूप से उपलब्ध होते हैं। निरुक्त निन्दक कुटिल तथा अजितेन्द्रिय को विद्या देने का निषेध करता है[6]। अतः ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह इन दुर्गुणों को अपने पास भी न फटकने दे। अपितु पवित्र, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्य पालक तथा गुरु से द्रोह न करने वाला बने[7]। बोधायन कहते हैं—जिसमें धर्म

---

१. नियमार्थ देखें—याज्ञ० स्मृति० १.४९–५०। आप० ध० १२.१७ पर हरदत्त, गौतम ध० सू० १.३.४ पर मस्करि भाष्य, बौधायन ध० १.१.१७, लौगाक्षि गृ० सू० कण्डिका ४३।

२. गौतम ध० १.३.४ पर मस्करि भाष्य तथा प्रथम प्रश्न का १–२ अध्याय।

३. सत्यार्थप्रकाश, समु० ३

४. स्मृति—याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १६–३३। मनु० २.६९–२४२। गौतम—अथब्रह्मचारी वर्णनम्। औशनस ५–६४। वशिष्ठ २०६–२१७। कात्यायन खण्ड २५ श्लोक १३–१७, सम्वर्त ५–३४

५. गृह्यसूत्र—शांखायन २.६.८। द्राह्यायण तथा खादिर पटल २, खण्ड १.२–१७, १०–२७। आश्वलायन १–७,१७। मानव-पुरुष १, खं० १.२–१७। कौथुम १५। लौगाक्षि, कं ४१। आपस्तम्व ४.११.१९–२४ तथा कौषीतक २.१–८।

धर्मसूत्र—गौतम १.२.१२–३७। बौधायन १.२.३ २१–२८। आपस्तम्ब १, पटल १–२। वैखानस धर्म प्रश्न १.२.१–११

६. असूयकायानृजवेऽयतमानाय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ नि० २.१.४

७. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत कतमच्चनाह०॥ वही २.१.४

अर्थ का अभाव तथा गुरुशुश्रूषा का भाव न हो उसे विद्या न दे, चाहे विद्या को साथ लेकर मरे किन्तु ऊसर में न वोए अर्थात् अपात्र को न दे[१]।

यजुर्वेद भाष्य के अनुसार लम्पट दुराचारी तथा निन्दक विद्याग्रहण का अधिकारी नहीं होता। अतः ब्रह्मचारी उपर्युक्त सब गुणों का ग्रहण तथा दोषों का त्याग अपना कर्त्तव्य समझें।

(१३) अध्ययन सम्बन्धी कर्तव्य

महाभाष्य के अनुसार विद्याग्रहण के लिये चार प्रकार अपनाने पड़ते हैं। १—आगम—गुरुजनों से सावधान हो कर सुनना, २—स्वाध्याय—पठित विद्या को एकान्त में विचार कर सत्यासत्य का निर्णय करना, ३—प्रवचन—पठित तथा विचार की हुई विद्या को अन्यों को प्रीतिपूर्वक पढ़ाना तथा ४—व्यवहार—जब सत्यासत्य का पूर्ण निश्चय हो जाए तब सत्य पर आरूढ़ होना तथा असत्य को त्याग देना[२]। यजुर्वेद भाष्य में महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं—जब कोई किसी को पढ़ावे या उपदेश करे तब पढ़ने वाला ध्यान देकर पढ़े व सुने। जब सत्य व मिथ्या का निश्चय हो जावे तब सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे। ऐसा करने में कोई निन्दा और कोई स्तुति करे तो सत्य को कभी न छोड़े और मिथ्या का ग्रहण कभी न करे[३]।

लोभ तथा ईर्ष्या सामान्य दशा में अवगुण हैं, जिनका त्याग करना आवश्यक है। किन्तु यदि सद्गुणों की प्राप्ति में इन प्रवृत्तियों को लगाया जाए तो ये मानव के लिये शोधित विष की भाँति हितकारी बन जाती हैं। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने व्यवहारभानु नामक पुस्तक में विद्याग्रहण में लाभ को उचित बतलाया है[४]। यजुर्वेद भाष्य में ईर्ष्या को भी विद्याध्ययन में उचित बतलाते हुए लिखा है जैसे अच्छे विद्यार्थी दूसरे की हिरस से अपनी विद्या को बढ़ाते हैं वैसे ही सबको विद्या बढ़ानी चाहिये[५]। वे तो अध्ययन के साथ-साथ भोजन बनाने की क्रिया के शिक्षण का भी उल्लेख करते हैं[६]।

---

१. धर्मार्थौ यत्र न स्यातां गुरुशुश्रूषा वापि तद्विधा ॥ विद्यया सह मर्तव्यं न चैनामूषरे वपेत् ॥ बोधायन ध० १.२.४.१

२. चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवत्यागमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥ महाभाष्य १.१.१

३. १२.४२ भावार्थ

४. पृ १४

५. २५.१६ भा०

६. ११.५६ भा०

(१४) गुरुसेवा

श्रद्धा को आविर्भूत करने, गुरु के सामने अपनी पात्रता सिद्ध करने, गुरुकृपा पाने तथा एक स्वच्छ परम्परा को अविच्छिन्न बनाने के लिये ब्रह्मचारी द्वारा गुरुसेवा का करना भी आवश्यक है। यह छात्र भी जब गुरु पद का अधिकारी बनेगा तब संस्कृति उद्यान में आरोपित इन सुवासित पुष्पों की सुगन्ध का वह अनायास ही अधिकारी बन जायेगा। अतः महर्षि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य में इस पर बार-बार बल देते हैं। यथा—

क—विद्यार्थी निष्कपट होकर विद्वानों की सेवा करे।[१]

ख—कार्य करने में चतुर और विद्यायुक्त होकर विद्यार्थी लोग विद्वानों को सेवा से सुखी करें।[२]

ग—जो जिनको विद्या देवें वे विद्या लेने वाले उनके सेवक हों।[३]

घ—और पढ़ने वालों को भी चाहिये कि अपनी-अपनी अधिक न्यून बुद्धि को जान के अपने अनुकूल अध्यापकों की प्रीतिपूर्वक सेवा करते हुए उनसे निरन्तर विद्या को ग्रहण करें।[४]

ङ—विद्या के व्यवहार में निष्कपट भाव से विद्यार्थियों को पढ़ाने वालों की सेवा करनी चाहिये।

च—हे विद्यार्थी जन, जैसे तेरे वसन्त आदि ऋतु, ऋतु के गुणों से पालना करे, वैसे पढ़ने-पढ़ाने रूप यज्ञ में शम-दम आदि गुणों की प्राप्ति करने वाले अध्यापक पढने-पढ़ाने वालों को विशेषता से उपदेश करें और सम्बत् के जल और कर्मों से तुझे शान्ति दें उनकी तू सदैव सेवा कर।[५]

(१५) शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति

ब्रह्मचर्य काल व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक आत्मिक आदि उन्नति करने का प्रभुप्रदत्त अवसर है। सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त तथा वृद्धि के प्रवाह से युक्त इस काल में सब शक्तियों का संचय करके अपने आगामी जीवन को सुखपूर्वक यापन कर सकता है। इस विषय में महर्षि के यजुर्वेद भाष्य में लिखा है—सब मनुष्यों को चाहिये कि प्रथम वय में समस्त शरीरादि साधनों से शरीर तथा आत्मा के बल को

---

१. २६·७।
२. ५·३४।
३. १७·५३।
४. ७-४६।
५. २३·३८।
६. २३·४०।

सिद्ध करें तथा अविद्या, दुष्ट सिखावट, निन्दित स्वभाव आदि रोगों को सब प्रकार हनन करें[1]।

यहां आत्मोन्नति के बाधक तत्त्व अविद्यादि को दूर करने की ओर भी संकेत कर दिया है ? पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिये शारीरिक बल भी अपेक्षित है। अतः यजुर्वेदभाष्य में लिखा है कि—'जो मनुष्य अनेक विद्या बोधों को प्राप्त होकर ठीक-ठीक यथोचित आहार और विहारों से सब अंगों को अच्छे प्रकार पुष्ट कर रोगों की निवृत्ति करें तो वे धर्म अर्थ काम और मोक्ष को अच्छे प्रकार प्राप्त होवें।[2] जो पराक्रम और बल को नष्ट न करे, शरीर और आत्मा की उन्नति करता हुआ रक्षक हो उसके लिये आप्त जन विद्या देवें।[3] यहां भी ब्रह्मचारी के लिये शरीर तथा आत्मबल को अपेक्षित बतलाया है। मातापिता भी सन्तानों को यही शिक्षा देते हैं कि—हे सन्तानो ! तुमको चाहिये कि ब्रह्मचर्य सेवन से शरीर का बल और विद्या तथा अच्छी शिक्षा से आत्मा का बल पूर्ण दृढ़ कर स्थिरता से रक्षा करो।[4]

(१६) ब्रह्मचारी के अन्य कर्तव्य

इन कर्तव्यों के अतिरिक्त ब्रह्मचारी का यह भी कर्तव्य है कि वह किसी वस्तु के विषय में शोक न करे।[5] शोक आसक्ति होता है अतः यहाँ आसक्ति त्याग ही व्यंजित होता है। ब्रह्मचारी अपने पदार्थों को परोपकार के लिये रखे।[6] हिंसा कभी न करे।[7] आहार विहार का सेवन नियम पूर्वक करे। कभी विषय की कथा न सुने, मद्य, मांस, आलस्य और अत्यन्त निद्रा को त्याग कर पढ़ाने वालों की भी सेवा करे और उनके अनुकूल वर्तकर अच्छे नियमों को धारण करे।[8]

ब्रह्मयज्ञः—

महर्षि ने पञ्चमहायज्ञ विधि में सन्ध्या तथा स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा है।[9] सत्यार्थ प्रकाश में वे लिखते हैं कि—ये दो यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ—जो पढ़ना-पढ़ाना,

---

१. २५·२।
२. यजु० भा० २५.८।
३. २७·४४।
४. ११·४४।
५. ११·४५।
६. ११·७३।
७. १८·५३।
८. ११·५९।
८. प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचे नाब्दैवतेन तु। याज्ञवल्क्य स्मृति
 जपन्नासीत सावित्री प्रत्यगातारकोदयात् ॥
 आचाराध्याये ब्रह्मचारी प्रकरण श्लोक २४-२५

सन्ध्योपासन—ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना। दूसरा देवयज्ञ—जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना। परन्तु [पंचमहायज्ञों में से] ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है। अतः ब्रह्मचारी के लिये ये दो यज्ञ अनिवार्य है। जिनमें प्रथम है-ब्रह्मयज्ञ।

सन्ध्योपासन उभयकाल का करणीय कर्म है। याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है—प्राणायाम पूर्वक सायंकाल सावित्री का जप तारों के उदय तक करे तथा इसी प्रकार प्रातः की सन्ध्या सूर्योदय पर्यन्त करे। गौतम का कथन है कि ब्रह्मचारी उभयकाल ग्राम से बाहर जाकर सन्ध्या करे।[१] कौषीतक की मान्यता है कि जंगल में समित्पाणि होकर मौन होकर सन्ध्या करे, समय के विषय में इसका भी उपर्युक्त मत है।[२] शांखायन की भी यही मान्यता है। वैखानस,[३] आपस्तम्ब,[४] मानव[५] तथा मनु[६] भी इसका अनुमोदन करते हैं।

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जिन से ब्रह्मचारी के सन्ध्या कहने का उल्लेख है। एक स्थान पर प्रथम वयस् में शरीर तथा आत्मा के बल बढ़ाने का निर्देश है।[७] आत्म बल ईश्वरोपासना से ही बढ़ता है। वेद में परमात्मा को आत्मज्ञान तथा सब प्रकार के बल का देने वाला कहा गया है।[८] ब्रह्मचारी के लिये धर्मात्मा योगी विद्वानों के स्थान पर बैठने की प्रार्थना की गई है।[९] यह संकेत स्पष्ट बताता है कि उसे योग विद्या रूप उपासना को सीखना है, अन्यथा धर्मात्मा योगी विद्वान् के पास जाने का क्या अर्थ? ब्रह्मचारी कर्म उपासना तथा ज्ञान को जताने वाली तीन वाणियों से अपनी रक्षा के लिये आचार्य से प्रार्थना करता है।[१०] उपासना का ज्ञान उपासना करने के लिये ही होता है। यजुर्वेदभाष्य

---

१. वहिःसन्ध्यत्वं च ।।गौतम ध० १·२·१६
२. अरण्ये समित्पाणिः सन्ध्यामुपास्ते नित्यंवाग्यतः—अस्तमिते मण्डले आनक्षत्राणां दर्शनात्। एवं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नामण्डलदर्शनात् ।। कौ० गृहसूत्र २·६·३-४
३. शांखायन गृह्य० २·२·१-३।
४. वैखानसधर्म प्रश्न १·२·१।
५. आपस्तम्ब गृह्य० ४·११·१८
६. मनु० २·६६, १०१-१०३ ।।द्र० संस्कार विधि, वेदारम्भ प्रकरण तथा सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।
७. २५·२।
८. य आत्मदा बलदा० ।२५·१३।
९. २३ १६ भाष्य।
१०. पाहि गीर्भिस्तिसृभिरुर्जां पते ।। यजु० २७·४३।

में एक स्थल पर कहा है—'जो हमारे सन्तान अविनाशी परमेश्वर के सम्बन्ध की या नित्य वेद की वाणियों को अध्यापनादि से सुनें वे हमारे लिये उत्तम सुख करने हारे होवें।'[1] परमेश्वर से सम्बद्ध वाणियां स्तुति प्रार्थना ही तो होती है।

अतः यजुर्वेद सन्ध्या तथा स्वाध्याय को भी ब्रह्मचारी के नियमों में रखता है। शतपथ ब्राह्मण स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ बतलाता है।[2]

देवयज्ञ—

ब्रह्मचारी के नैत्यिक कार्यों में दोनों समय यज्ञ का करना भी है। ब्रह्मचारी के लिये यज्ञ इतना महत्त्वपूर्ण है कि शतपथ ब्राह्मण तथा बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी मृत्यु की परिधि से बाहर है। किन्तु जिस दिन यज्ञ किये बिना यह रहेगा वह दिन इसकी आयु से काट कर निकाल दिया जाएगा।[3] ब्रह्मचारी के यज्ञ का अनेक आचार्य समर्थन करते हैं। यथा—

(१) अग्नीन्धनभैक्षचरणे ।।गौतम धर्मसूत्र १·२·१२।

(२) तत्रापि प्रदक्षिणं परीत्याग्निमित्यनेन समिद्धोम उक्तः ।। गौतम ध० सू० १·२·१२ पर मस्करिभाष्य।

(३) दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि।
सायं प्रातश्च जुहूयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ।। यथा च स्मृत्यन्तरम् वही,

(४) अग्निकार्यं ततः कुर्यात् सन्ध्ययोरुभयोरपि ।।याज्ञवल्क्यस्मृतिः आचाराध्याय ब्रह्मचारि प्रकरण २५

(५) कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया ।।वही श्लोक ३१

(६) सदारण्यात् समिध आहृत्यादध्यात् ।। बौधायन धर्मसूत्र १·२·३·२०

(७) पुनश्च वटुः प्राङ्मुखो भूत्वा आचार्यो ब्रह्मचार्यसि समिधमाधेहि—सायमग्निकार्यम् ।। कौथुम गृह्यसूत्र १५

(८) अहरहः सायंप्रातरग्निं प्रणीयोपसमाधाय परिसमूह्य पर्युक्ष्य सुसमिद्धे जुहोति ।। कोषीतक गृह्यसूत्र २·६·६

(९) अहरहः सायं प्रातः। अग्नि मुप समाधाय पनिरसमूह्य पर्युक्ष्य दक्षिणं जान्वाच्य अग्निमुपतिष्ठते ।। शांखायन गृ० अ० ३, खं-१० सूत्र १-२

(१०) सायं प्रातः समिधमादध्यात् ।।आश्वलायन गृ० १.२२·६

---

१. यजु० ३३.७७।

२. शत० ११·५·५·३ तथा ११·५·६ सम्पूर्ण।

३. ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्। तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्, सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन् विभाग इति; यामेव रात्रिं समिधं नाहराता इति। तस्माद्यां रात्रिं ब्रह्मचारी समिधमनाहरत्यायुष एव तामादाय वसति। तस्माद् ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति ।।
शत० ११·३·३१

इन सब उद्धरणों में ब्रह्मचारी के यज्ञ करने का उल्लेख है। ब्रह्मचारी के यज्ञविधान के लिये मनु० २.४८,६६; वैखानस धर्म प्रश्न १ खं २१; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल ४. खं० ११ सूत्र १८, मानव गृह्यसूत्र, प्रश्न १ ख० १ सूत्र १५–१६ तथा द्राह्यायण गृह्यसूत्र प० २ खं० ५ सू० १६ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के अनुसार यज्ञ विस्तृत अर्थ का द्योतक है, किन्तु ब्रह्मचारी के लिये देव यज्ञ का विधान भी उनके यजुर्वेद भाष्य में मिलता है। एक स्थान पर ब्रह्मचारी से परीक्षक पूछता है—कौन तो तेरा यज्ञ करने वाला है।[1] अन्यत्र लिखा है—जो विद्वानों के सुख, पढ़ने, अन्तःकरण के विशेष ज्ञान तथा वाणी और पवन आदि पदार्थों की शुद्धि के लिये यज्ञ क्रियाओं को करते हैं, वे सुखी होते हैं[2]। यहां अध्ययन के साथ यज्ञ क्रिया का उल्लेख होने से यह ब्रह्मचारी के ही कृत्य हैं। यजुर्वेद भाष्य में यज्ञ साधन स्रुवा आदि को प्राप्त विद्या देने वाले विद्वान् के सत्कार का उल्लेख है[3]। इससे यह भी स्पष्ट है कि यज्ञ आचार्य का भी कर्त्तव्य है, फिर ब्रह्मचारी यज्ञ से अछूता कैसे रह सकता है। अन्यत्र भी वहाँ यज्ञ का उल्लेख मिलता है[4]।

यह भी उल्लेखनीय है कि जो विद्या ग्रहण आदि ब्रह्मचारी के नियम बतलाए हैं वे ब्रह्मचारिणी के भी समझने चाहिये। महर्षि दयानन्द कन्याओं की शिक्षा को भी अनिवार्य मानते हैं।[5]

गृहस्थाश्रम

(१७) गृहस्थाश्रम का महत्व

आश्रमों की दृष्टि से दूसरा होने पर भी गृहस्थ की महत्ता असन्दिग्ध है। गौतम धर्म सूत्र में गृहस्थ को सब आश्रमों का मूल कहा गया है। क्योंकि अन्य आश्रम प्रजातन्तु का विस्तार नहीं करते।[6] अतः यह एक मात्र गृहस्थ को ही अपने

---

१. क उ ते शमिता ॥ यजु० २३.३९

२. २२.२० भावार्थ

३. २७.१४ भा०

४. २७.२१

५. द्र०, यजुर्वेदभाष्य ६.६,८,१०,१३, ७.४७, ११.३६, ५९–६१, १५.४७, २३.३२, ४२, ३३.७७, ३४.१०, १४, सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लासः, संस्कार विधि उपनयन प्रकरण, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका—वर्णाश्रमविषयः।

६. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ॥ गौतम० १,३,२–३ पृ० ६२

आचार्य द्वारा अनुमोदित मानते हैं।[१] बौधायन का भी यही मत है।[२] यह वर्णन चारों आश्रमों में गृहस्थ की महत्ता का द्योतक है। मनु भी गृहस्थ को सागर से उपमा देते हैं जिसमें सब नद तथा नदी आश्रय पाते हैं।[३] वही सबका अन्न-धन से पालन करता है अत: वह सबसे ज्येष्ठ आश्रम है।[४]

तैत्तिरीय ब्राह्मण ने अपत्नीक को अयज्ञिय कहा है।[५] शतपथ ब्राह्मण कहता है—स्त्री, पुरुष का अर्धभाग होती है। जब तक पुरुष स्त्री को नहीं पाता तब तक उसमें पूर्णता नहीं आती।[६] ऐतरेय आरण्यक की मान्यता है—पुरुष पत्नी को पाकर अपने को पूर्ण सा समझने लगता है।[७] देवी भागवत में कहा है—गृहस्थ से बढ़कर धर्म न तो देखा है और न सुना है। वशिष्ठादि ज्ञानी आचार्यों ने भी इसका आश्रय लिया था।[८] मनु तो मोक्ष तथा संसार सुख के इच्छुक को गृहस्थाश्रम को प्रयत्न पूर्वक धारण करने को कहते हैं।

गृहाश्रम गरिमावर्धक है। महर्षि-दयानन्द का मत है कि 'इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है।[९]

महर्षि ने भगवान् की भांति गृहाश्रम को भी सोलह कलाओं से परिपूर्ण परम

---

१. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्य: प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य गार्हस्थ्यस्य ॥
वही १.३.३६, पृ० ७२

२. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ॥ बौ० २.६.११.२६ पृ० २५३

३. यथा नदी नदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु ६.९०

४. यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ वही ३.७८

५. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक:। तै ब्रा० २.२.२.६

६. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। यावज्जायां न विन्दते असर्वो हि तावद्भवति ॥ शत० ५.२.१.१०

७. पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नमिवात्मानं मन्यते ॥ ऐत० आ० १.३.५

८. गृहस्थात् परो धर्मो न दृष्टो न वै श्रुत:।
वशिष्ठादिभिराचार्यैर्ज्ञानिभि: समुपाश्रित: ॥ देवी भा० १.१४.५६

९. सत्यार्थ प्र०, समु० ४ पृ० १७९

ऐश्वर्य देने वाला बतलाया है ।[१] इसी मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—गृहाश्रम के आधीन ही सब आश्रम हैं। वे वेदोक्त श्रेष्ठ व्यवहार से सेवन किये हुए अभ्युदय तथा निःश्रेयस सुख सम्पन्नता के लिये होते हैं। अतः परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये गृहाश्रम का सेवन करना ही उचित है ।[२] अतः जिस गृहाश्रम से इह लोक का सुख तथा परलोक का आनन्द सुलभ कहा है इससे अधिक इस आश्रम की सर्वांगीणता तथा महिमा क्या हो सकती है।

(१८) गृहाश्रमी के भेद

महर्षि दयानन्द गृहस्थों के भेदोपभेद को स्वीकार नहीं करते। किन्तु 'नारद-परिव्राजकोपनिषद' ने 'षड्विधं गार्हस्थ्यम्' लिखकर गृहस्थ के छः भेद माने हैं, जिनका नाममात्र से उल्लेख ही किया है। किन्तु आश्रमोपनिषद् ने नामोल्लेखपूर्वक गृहस्थों के चार भेद बतलाए हैं जो ये हैं :—

१—वार्तकवृत्ति—

कृषि गोरक्षा तथा उत्तम वाणिज्य करते हुए सौ वर्ष वाली क्रियाओं से यजन करते हुए जीवन यापन करने वाले ।[३]

२—शालीना वृत्ति—

स्वयं यज्ञ अध्ययन तथा दान करने तथा अन्यों का यज्ञ अध्ययन न कराने वाले एवं दान न लेने वाले होकर सौ वर्ष वाली क्रिया से यजन करके जीवन यापन करने वाले ।[४]

३—यायावर—

यज्ञ अध्ययन दान की क्रियाओं को करके उपर्युक्त जीवन चर्या चलाने वाले ।[५]

४—घोर संन्यासिक —

उद्धृत परिपूत जल से कार्य करके दैनिक आनीत उञ्छवृत्ति करके शत

---

१. यजु० ३२.५ में परमात्मा को 'षोडशी' कहा है तथा यजु० ८.३३ में गृहस्थ को 'षोडशिने' कहा है।

२. द्र० यजु० ८.३३ का भावार्थ

३. तत्र वार्तकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥ वही, २, पृ० ६५२

४. शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रति-गृह्णन्तः शतसंवराभि० वही पृ० ६.५१–५२

५. यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शत० ॥ वही पृ० ६५२

संवत्सर वाली क्रियाओं से यजन पूर्वक जीवन यात्रा पूर्ण करने वाले ।[1]

गृहाश्रमी के उपर्युक्त भेदों के अन्तर्गत केवल ब्राह्मण एवं वैश्य वृत्ति वाले गृहस्थ ही आ सकते हैं, क्षत्रिय तथा शूद्रवृत्ति वाले नहीं । इस प्रकार गृहस्थ के चार भेद होने पर भी वर्णों की दृष्टि से अधूरापन रह जाता है ।

(१६) गृहस्थ में प्रवेश की प्रेरणा

यजुर्वेद गृहस्थ की प्रेरणा देते हुए कहता है— हे गृहस्थो ! गृहस्थ से न डरो तथा न काँपो, पराक्रम को धारण करते हुए हम लोग अन्य गृहस्थों को प्राप्त होते रहे ।[2] अथर्व (१४.१.२२) तथा ऋग्वेद (१०.८५.४२) 'इहैव स्तं मा वि यौष्टम्' आदि वचनों से गृहस्थ की प्रेरणा देता है । यजुर्वेद में एक स्थान पर कहा है— हे गृहस्थो ! तुम लोगों की इस गृहाश्रम में प्रीति, इसमें सब पदार्थों की धारणा, स्व पदार्थों का धारण तथा तुम्हारी सत्यवाणी और सत्यक्रिया हो । तुम इस गृहाश्रम में रमण करो ।[3]

(२०) गृहाश्रम में प्रवेश का समय

गृहाश्रम में प्रवेश के विषय में आचार्यों में प्रर्याप्त मतभेद है । किन्तु वेद में कन्या को तभी विवाह की आज्ञा है—जब वह जन समुदाय अपना मित्र ढूंढ सके (स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्[4]), घरों में जा कर गृह पत्नी, सबको वश में करने वाली तथा यथार्थ बोलने वाली[5], प्रजा से समृद्ध, गार्हस्थ्य के लिये जागरूक, तथा पति के साथ शरीर मिलाने के योग्य हो[6] । यह कार्य युवती ही से सम्भव है बाला से नहीं । ऋग्वेद में वधू को सन्तति प्रजनन के योग्य[7], सास, सुसर, ननद तथा देवरों

---

१. घोग्संन्यासिका उद्धृतपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वतः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्ति-मुपयुञ्जानाः शत० ॥ वही पृ० ६५२

२. गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ॥ यजु० ३.४१

३. इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः ॥ वही ८.५१ पदार्थ द्रष्टव्य ।

४. ऋ० १०.८५.१२ ।

५. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथा सो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥
वही० १०.८५.२६

६. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यातामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाध जिव्री विदथमा वदाथः ॥ ऋ० १०.८५.२७

७. तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥
ऋ० १०.८५.३७

पर साम्राज्य करने वाली[1], पति की इच्छा करने वाली[2] तथा स्वयं युवती हो कर युवा को प्राप्त होने वाली कहा है।[3]

अथर्ववेद कहता है—कन्या ब्रह्मचर्य पूर्वक युवा पति को प्राप्त करती है।[4] महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेदभाष्य में युवावस्था में ही विवाह का उल्लेख किया है। यथा—

१. यदा स्त्रीपुरुषौ विवाहं कुर्तुमिच्छेतां तदा ब्रह्मचर्येण विद्यया स्त्रीपुरुषधर्माचरणे विदित्वैव कुर्याताम् (३८.२ भावार्थ:)।

२. हे कुमारियो ! तुम ब्रह्मचर्य पूर्वक समग्रविद्या प्राप्त करके युवती होकर अपने इच्छित, परीक्षित, वरने योग्य पतियों को स्वयं चुनो (३४.१० भावार्थ)।

३. ये दोनों (पति पत्नी) युद्ध कर्म में भी पृथक् न वसें। (११.५० भावार्थ)।

४. पूर्ण जवान पुरुष जिस ब्रह्मचारिणी कन्या के साथ विवाह करे उसके साथ विरोध कभी न करे। जो कन्या पूर्ण युवती स्त्री जिस ब्रह्मचारी के साथ विवाह करे, उसका अनिष्ट कभी मन से भी न विचारे (११.३६ भावार्थ)।

५. ब्रह्मचर्य से शुद्ध शरीर सद्गुण सद्विद्यायुक्त होकर विवाह की इच्छा करने वाले कन्या और पुरुष युवावस्था को पहुँचकर और परस्पर एक दूसरे के धन की उन्नति को अच्छे प्रकार देखकर विवाह करें। अन्यथा धनाभाव से दुःख बढ़ेगा। (८.११ भावार्थ)। एक अन्य मन्त्र में पूर्ण ब्रह्मचर्य करके स्वयंवर रीति से विवाह का उल्लेख है। (२५.४६ भा०)।

सुश्रुत भी १६ वर्ष से न्यून आयु की स्त्री तथा २५ वर्ष से कम आयु वाले पुरुष को सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य मानता है।[5] मनु तभा बोधायन ऋतुमती होने के

---

१. सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ऋ० १२.८५.४६

२. वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति ॥ ऋ० ५.३७.३

३. तमस्मेरा युवतयो युवानम् ॥ ऋ० २.३५.४

४. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ अथर्व० ११.५.१८

५. ऊनषोऽशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरंजीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥
सुश्रुत शारीरस्थान अ० १०. श्लोक ४७–४८

तीन वर्ष बाद कन्या को विवाह के योग्य ठहराता है ।[1] बौधायन, कौशिक सूत्र तथा वैखानस ने विवाह की क्रियाओं के बीच मासिक धर्म प्रकट हो जाने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है ।[2] इन सबसे भी युवावस्था में ही विवाह होना सिद्ध है । महाभारत तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र विवाह का काल युवावस्था ही मानते हैं ।

वेदों में अनेक स्थानों पर कन्या के लिये सूर्या शब्द प्रयुक्त हुआ है जो उसके आदित्य ब्रह्मचारिणी होने का निर्देशक है ।[3]

महर्षि दयानन्द १६ वर्ष की कन्या तथा २५ वर्ष के पुरुष का विवाह अधम मानते हैं तथा विवाह की अन्तिम आयु स्त्री की २४ वर्ष तथा पुरुष की ४८ वर्ष मानते हैं[4] । इस प्रकार वे बाल विवाह तथा अनमेल विवाह को अयुक्त मानते हैं । किन्तु लौगाक्षिगृह्यसूत्र कन्या का ब्रह्मचर्य १० या १२ वर्ष का स्वीकारता है ।[5] वैखानस ब्राह्मण को नग्निका (८—१० वर्ष) तथा गौरी (१०—१२ वर्ष) से विवाह का विधान करता है ।[7] पाराशरी तथा शीघ्रबोध[8] १० वें वर्ष में कन्या के विवाह के पक्ष में हैं । ये सब ग्रन्थ २०० ईस्वी के लगभग अथवा उसके पश्चात् के लिखे हैं तथा वेदविरुद्ध होने से अमान्य है ।

इस प्रथा का कारण बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियाँ बनना, कन्याओं के पठन—पाठन न होने से उन्हें घर पर रखना व्यर्थ प्रतीत होना, सोम गन्धर्व तथा अग्नि से कन्याओं के सम्बन्ध के विश्वास के कारण कन्या में अंगों में परिवर्तन से पूर्व विवाह करना तथा अविवाहित स्त्री को स्वर्ग न मिलने की मान्यता है ।[9]

---

१. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्दते सदृशं पतिम् ।। मनु० ९.९०
त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांक्षेत पितृशासनम् । ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ।। वै० ४.१०

२. बौधायन गृ० ४.१.१० ।। कौशिक० ७९.१६ ।। वैखान स० ६.१३ ।।

३. अनुशासन पर्व ४४.१६ तथा वशिष्ठ १७.६७—६८ ।

४. द्र०—ऋ० १०.८५ तथा अथर्व १४.१—२ सूक्त ।

५. संस्कार विधि, गर्भाधान प्रकरण, वेदारम्भ तथा सत्यार्थ प्रकाश समु० ४, पृ० ११८

६. दशवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा ।। लौ० गृ० १९,२० ।

७. वैखा० ६.१२

८. द्र०, पाराशरी स्मृति (लघुपाठ) अ० ७, श्लोक ६,८

९. शीघ्रबोध १.५४,६५ श्लोक निम्न हैं—
अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला । माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च । त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।।

कुछ भी हो, इस मान्यता से समाज को हानि उठानी पड़ी है। बाल्यावस्था में विवाह तथा पुनर्विवाह एवं नियोग पर प्रतिबन्ध, कैसा दारुण रहा होगा उस समय नारी का जीवन।[१]

महर्षि दयानन्द बाल्यावस्था के विवाह का निषेध करते हुए लिखते हैं—जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है।[२] और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है।[३] यजुर्वेद भाष्य में वे गुरुजनों को कन्या तथा पुत्रों को विद्या और शिक्षा से युक्त करके उन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहाश्रम में जाने का उल्लेख करते हैं।[४] जैसे पथिक मार्ग के रूप को छोड़ सुखपूर्वक गन्तव्य पर पहुँचते हैं वैसे ही बालविवाह के विघ्न को छोड़ अपने सन्तानों को सुख-मार्ग पर चलावें।[५] इस प्रकार महर्षि दयानन्द ब्रह्मचर्य न पालने वाले तथा विद्या ग्रहण से रहित, बाल्यावस्था वाले तथा अयोग्यों का विवाह निषिद्ध मानते हैं।

(२१) विवाह की महत्ता

प्रायः मन प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर भागा करता है। शायद इसका कारण वर्तमान सुख से भी अधिक ऊँचे सुख का अन्वेषण हो। यही कारण है कि युगों से चले आ रहे सुमधुर प्रेममय विवाह सम्बन्ध को व्यक्ति बन्धन समझ कर तोड़ना चाहता है। मेकेन्जी मानव प्रकृति को अधिकांश जन्तुओं की अपेक्षा अस्थिर बताते हुए स्त्री पुरुषों के स्वभाव, चिन्तन और अनुभूति में परिवर्तन तथा उसका परिणाम विवाह बन्धन की समाप्ति की इच्छा की ओर प्रेरित होना बतलाता है। वह जन्तुवर्ग के अति निकटस्थ मानव को स्थायी साहचर्य के उपयुक्त बनाने में भी सन्देह व्यक्त करता है।[६] इसी कारण वह तलाक की अधिक सुविधाएँ चाहता है।[७] किन्तु आगे वह विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए जापान में लम्बे काल से

---

१. द्र० पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, अनु० कश्यप, पृ० २७५

२. स० प्र०, समु० ४ पृ० ११८।

३. वही पृ० १२२।

४. द्र०, य० भा० ११.६० भावार्थ।

५. द्र० यजु० २८.१३ भावार्थ। इस विषय में महर्षि जी लिखते हैं, जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या रहित और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है। सत्या०, समु० ४ पृ० ११८, १२२, यजु० १६.४६ तथा २८.१३ भी द्रष्टव्य।

६. द्र० समाज दर्शन की रूपरेखा, पृ० ६३।

७. वही, पृ० ६३।

इस प्रकार की सुविधाओं के होने पर अब वहाँ भी विवाह बन्धन की दृढ़ता को वाञ्छनीय समझने का उल्लेख करता है।[1] बच्चों की पर्याप्त देख-भाल के लिये माताओं का होना आवश्यक है जिसे विवाह बन्धन की शिथिलता कठिन बना देती है।[2]

चन्द्रराज भण्डारी बिना विवाह के अनाचार, व्यभिचार और बलात्कार की प्रवृत्ति का विकास मानते हुए विवाह को उसके निवारण का उपाय, सात्विक प्रेम और स्वस्थ सन्तानोत्पत्ति, ब्रह्मचर्य, सामाजिक स्वास्थ्य और दैवी सम्पद् का आधार, पशु प्रवृत्ति पर संयम, कामवासना की तृप्ति तथा उसमें से कई सुन्दर फलों का जन्म तथा समाज शरीर का पालन और उसके जीवन का पोषण बतलाते हैं।[3] इस प्रकार मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकता के स्थान से भी विवाह संस्था मानव समाज के लिये बड़ी उपयोगी चीज है। पर विवाह संस्था एक और ख्याल से भी उपयोगी है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता है।[4]

सत्यमित्र दुबे के अनुसार—काम एवं यौन सम्बन्धों को मर्यादित करने के लिये मानव जाति ने सभ्यता के आदिम छोर से ही विवाह की पद्धति को विकसित किया है।[5] मन्मथनाथ के अनुसार—विवाह प्रथा सर्वत्र प्रचलित है तथा सच तो यह है कि विवाह के बिना परिवार मूलक समाज चल ही नहीं सकता।[6] नन्दकिशोर विद्यालङ्कार विवाह से पुरुष तथा स्त्री की भिन्न-भिन्न शक्तियों के मिलने से एक सम्पूर्ण व्यक्ति बनना तथा परिवार में कितने ही छिपे गुणों को उत्तेजना प्राप्ति मानते हैं।[7] डा० सत्यप्रिय मनुष्य के वैवाहिक जीवन को प्रतिष्ठावर्धक, उत्तरदायित्व निभाने में प्रेरक तथा सहनशीलता का संचार कर जीवन में सदाचार और त्याग की भावना का आधान करने वाला मानते हैं।[8]

आधुनिक विद्वान् भी विवाह की आवश्यकता को स्वीकारते हुए कहते हैं—स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्धों से न तो परिवार ही अस्तित्व में आ सकता है और न आत्म बलिदान तथा संयम जैसे उच्च मानवीय भावों का विकास हो सकता है,

---

१. आर० पी० पोर्टर—जापान न्यू वर्ल्ड पावर, अध्याय ८।
२. द्र० समाज दर्शन की रूपरेखा, पृ० ६३।
३. द्र० समाज विज्ञान, पृ० १२७।
४. वही पृ० १२८।
५. मनु की समाज व्यवस्था, अ० ५, पृ० ६३।
६. भारतीय समाज, पृ० ३८।
७. विवाह का आदर्श, पृ० ११।
८. ऋग्वेद में आचार सामग्री, मेरठ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध पृ० १९१।

जिनका कि मानव जाति की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ है।[१] डा० राजवली पाण्डेय लिखते हैं—घर का मधुर तथा स्नेहमयी पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा उसके फलस्वरूप होने वाली सन्तान का पालन-पोषण वैदिक आर्यों को अत्यन्त प्रिय थे, अतः प्राचीनकाल में ही विवाह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था।[२]

विश्व के मनीषियों का विवाह की आवश्यकता पर बल देने का कारण यह है कि बिना विवाह बन्धन के स्त्री पुरुष का संयोग मानव जाति की शक्ति का ह्रास तथा पाशविक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना है। दुःख, मुसीबत तथा वृद्धावस्था, जिनमें सहयोग की नितान्त अपेक्षा है, उनका साथी कोई न मिलेगा। महर्षि दयानन्द विवाह की मर्यादा पर बल देते हुए लिखते हैं—इस संसार में मनुष्य जन्म को पाकर स्त्री और पुरुष ब्रह्मचर्य, उत्तम विद्या, अच्छे गुण और पराक्रमयुक्त होकर विवाह करें। विवाह की मर्यादा ही से सन्तानों की उत्पत्ति और रति क्रीड़ा से उत्पन्न हुए सुख को प्राप्त होकर नित्य आनन्द में रहे। बिना विवाह के स्त्री पुरुष या पुरुष-स्त्री के समागम की इच्छा मन से भी न करें, जिससे मनुष्य शक्ति की बढ़ती होवे। इससे गृहस्थ का आरम्भ स्त्री-पुरुष करें।[३] यजुर्वेद भाष्य में व अनेक स्थलों पर विवाह का उल्लेख करते हैं।[४]

(२२) विवाह के लिये पुरुष की योग्यता

विवाह के लिये पुरुष में निम्न गुणों की आवश्यकता विभिन्न आचार्य मानते हैं।

१. वेद या वेदों का विद्वान्, अखण्ड ब्रह्मचर्य युक्त तथा दुर्बलेन्द्रिय न हो।[५]

२. माता-पिता कुलीन हों तथा वर बुद्धिमान् हो। उत्तम कुल, उत्तम आचरण, शुभ लक्षण, अध्ययन सम्पन्नता तथा आरोग्य।[६]

---

१. हिस्ट्री ऑफ मैट्री मोनियल इन्स्टीट्यूशन पृ० ९०—९१।

२. हिन्दू संस्कार, पृ० १९५।

३. यजु० ८.१० भावार्थ।

७. द्र० ८.१,२,३,४,५,६,७,८,९। ११.६३—६४। १२.३५। १३.३५ आदि।

५. मनु० ३.२.६। खादिर पृ० तथा द्राह्यायण पृ० १.३.१। याज्ञ० आचाराध्यायः, ५२।

६. कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतःपितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात्। बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत् ॥ बन्धुशीललक्षण सम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वर सम्पत् ॥
आश्व० गृ० १.५.१—२। १.३.१९।

३. कुल, शील, वपु (शारीरिक स्वस्थता), यश, विद्या, धन एवं सनाथता (सम्बन्धी तथा मित्रों का आलम्बन) ।[1]

महर्षि दयानन्द ने वर के निम्नगुण यजुर्वेद में गिनाए हैं—

१. कन्या के सदृश रूप, गुण, कर्म, स्वभाव तथा विद्यावाला, कन्या से अधिक वलयुक्त, इच्छा योग्य तथा कन्या की अन्त.करण से प्रीति वाला ।[2]

२. छल कपटादि आचरण रहित, परमैश्वर्य युक्त, दानशील, सत्यभाव प्रकाशक, पत्नी व्रती, जितेन्द्रिय, सब प्रकार से उद्योगी, धार्मिक तथा विद्वान् ।[3]

३. सदैव अप्रमादी, उभय जन्म पालक, विद्या गुणों में सूर्यवत् प्रकाशमान, मन आदि का वशीकर्ता ।[4]

४. सब ऋतुओं में सुख देने वाले घर वाला तथा वीर्यवान् ।[5]

५. सोमगुण सम्पन्न, बहुत धनी, यज्ञ में प्रशंसनीय स्त्री ग्रहण करने वाला, बड़ी वेदवाणी के पालक का पुत्र तथा गृह और सम्बन्धी जनों से युक्त ।[6]

६. अपने गुणों से दु:खों का नाश करने वाला, जन्म क्रम से अनेक विद्या विषयों में प्रवेश करने वाला, परमैश्वर्य को सिद्ध करने वाला तथा समस्त व्यवहारों में ध्यान देने वाला ।[7]

७. उत्तम भुजा, सुन्दर हाथ, शोभायुक्त अंगुली, सूर्य के समान ऐश्वर्य दाता तथा उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त हो ।[8]

८. ब्रह्मचर्य से बलवान् पिता का पुत्र, पुरुषार्थ से बहुत अन्नादि को इकट्ठा करने वाला तथा शुद्ध स्वभाव युक्त हो ।[9]

महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त गुणों के अन्तर्गत पूर्वोक्त आचार्यों के मत से भी गुणाढ्यता के दर्शन होते हैं। कुछ आचार्य सदृश पति न मिलने पर गुणहीन वर

---

१. कुलं च शीलं च यशो वपुश्च विद्यां च वित्तं च सनाथता च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ।।
यम (स्मृति चन्द्रिका पृ० ७)

२. यजु० ८.१ भावार्थ ।

३. यजु० पदार्थ तथा भावार्थ ।

४. यजु० ८.३ प० ।

५. यजु० ८.८ भा० ।

६. वही ८.९ प० ।

७. ८.३० प० ।

८. ११.६३ भा० ।

९. ११.७० भा० ।

का भी समर्थन करते हैं।[1] किन्तु महर्षि दयानन्द मनु[2] के आधार पर गुणहीन को कन्या देने के विषय में लिखते हैं—चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के भी बैठी रहे, परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी भी न करें। और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें।[3]

(२३) विवाह के लिये कन्या की योग्यता

इस विषय में अनेक आचार्यों ने विचार किया है।[4] जिनका सार है—उत्तम कुल, स्वास्थ्य, शारीरिक रचना, विशिष्ट नाम तथा बोलने का प्रकार आदि। कौपीतक तथा कुछ के अनुसार कन्या लक्षण-सम्पन्न, सीधे अंग, समकेश वाली तथा घूमने पर ग्रीवा में दो आवर्त आए।[5] कुछ धन रूप विद्या प्रज्ञा तथा बान्धव में से आगे वालों को वरीयता देते हैं।[6] वह बुद्धि, रूप, शील, लक्षण तथा आरोग्य युक्त हो।[7] याज्ञवल्क्य (आचाराध्याय ५२–५३) की भी ऐसी ही मान्यता है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास तथा संस्कार विधि के विवाह प्रकरण में मनु (३.४, १०) के आधार पर माता की ६ पीढ़ी तथा पिता के गोत्र का निषेध करके सुन्दर अंग, उत्तम नाम, हंस तथा हस्तिनी सी चाल, सूक्ष्म केश दांत तथा कोमल अंगों वाली कन्या से विवाह का विधान किया है।

यजुर्वेद भाष्य में महर्षि ने कन्या की विवाह विषयक निम्न विशिष्टताओं का उल्लेख किया है। वह हृदय को प्रिय, स्वसदृश गुण कर्म स्वभाव वाली, विदुषी, उत्तम लक्षणों से युक्त, रूपलावण्यादि गुणों से सुशोभित,[8] प्रेमबद्ध, बलकारिणी,

---

१. अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत्। बौधायन धर्मसूत्र ४.१०.१०.१६।

२. मनु० ९.८९।

३. संस्कार विधि, विवाह प्रकरण।

४. वशिष्ठ १.३८, विष्णु ध०सू० २४.११, शत० १२.५.१६, वि० पु० ३.१०.१८–२२, भारद्वाज गृ०सू० १.११, वाराह गृ० १०।

५. जाया लक्षणसम्पन्ना स्यात्। यस्या अभ्यात्ममङ्गानि स्युः समाः केशान्ताः। आवर्तावपि यस्यै स्यातां प्रदक्षिणौ ग्रीवायाम् (कौपीतक गृ० १.१८–१०, शांखायन १.५.६–९।

६. पञ्चविवाहकारणानि भवन्ति वित्तं रूपं विद्या प्रज्ञा बान्धव इति ॥
मानव गृ० १.७.६।

७. बुद्धिरूपशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत् ॥ १.५.३ आश्वलायन०।

८. हृद्यां स्वसदृशीं विदुषीं सुलक्षणां रूपलावण्यादिगुणैः सुशोभितां स्त्रियमुद्वहेत् ॥ १०.३४ भा०।

विस्तृत स्तुति और शिर के बाल वाली, कामना करने वाली तथा विद्वानों की बहन[1], आत्मज्ञान रखने वाली, श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान, प्रशंसनीय गुण युक्त, स्वीकरणीया, मनोहरस्वरूप, रमण करने योग्य, अत्यन्त आह्लाद देने वाली, उत्तम बातें तथा वेद जानने वाली, अत्यन्त प्रशंसनीय तथा विज्ञान वाली हो।[2]

रन्ते—रमणयोग्य पद उसकी युवावस्था का परिचायक है। क्योंकि बालिका तथा वृद्धा रमण के योग्य नहीं होती। चन्द्रे—सबको आह्लाद देने वाली, यह पद उसके कुशल व्यवहार का द्योतक है। अन्य पद भी उसके अन्य गुणों की ओर इंगित करते हैं।

कन्या की शैक्षिक योग्यता—

महर्षि दयानन्द कन्याओं का शिक्षण अनिवार्य मानते हुए भी सह शिक्षा तथा समान शिक्षा के पक्षपाती नहीं थे। कन्याओं की शिक्षा में मुख्यतः व्याकरण, धर्म शिक्षा, वैद्यक, गणित तथा शिल्पविद्या होने चाहियें।[3] यजुर्वेद (११.४८) में व्याकरण पढ़ा कर वैद्यकशास्त्र पढ़ाने,[4] गृहाश्रम विद्या, क्रियाकौशल की विदुषी होने का उल्लेख हुआ है।[5]

(२४) विवाह का प्रकार

गृह्य सूत्रों, धर्म सूत्रों, स्मृति तथा महाभारत आदि के काल से प्रायः आठ प्रकार के विवाह माने गए हैं। वे हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व और पिशाच।[6] इनकी संख्या तथा क्रम में भेद भी मिलता है। यथा—

१. मनु—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पिशाच।[7]

---

१. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ॥ ३४.१०।

२. इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महिविश्रुति ॥८.४३ प०।

३. सत्यार्थप्रकाश, समु० ३, पृ० ११२।

४. मातापितृभ्यां कन्याभ्यो व्याकरणादिशास्त्रमध्याप्य वैद्यकशास्त्रमप्यध्यापनीयम्। यजु० ११.४८ भा०, १६.८२ भी द्रष्टव्य।

५. याः स्त्रियो गृहाश्रमविद्या क्रियाकौशलयोर्विदुष्यः स्युः। यजु० १४.४ भा०

६. आश्व० गृ० १.६। गौतम ४.६–१३। बोधा० ध० १.११। म० भा० आदिपर्व ७३.८, ९ तथा १०१.१२–१५। विष्णु ध० २४.१८–१९। नारद–स्त्री पुंस ३८–३९। कौटिल्य ३.१, ५९ वां प्रकरण।

७. मनु० ३.२१, याज्ञवल्क्य का भी यही मत है, याज्ञ० स्मृ० आचाराध्याय ५८–६१।

२. वशिष्ठ—ब्राह्म, दैव, आर्ष गान्धर्व, क्षात्र (राक्षस) तथा मानुष (धन क्रीता)[1]
३. आश्वलायन ने प्राजापत्य की गणना पहले की है।[2]
४. मानव गृह्यसूत्र (१.७.११–१२) ने ब्राह्म तथा शौल्क (आर्ष) इन विवाहों को माना है।

यजुर्वेद भाष्य में विवाह के प्रकार—

महर्षि दयानन्द का विशेष बल स्वयम्वर विवाह पर है। अन्य विवाहों का उल्लेख भी उनके वेदभाष्य में मिलता है। ब्राह्म विवाह, यथा—

१. जब विवाह के लिये दृढ़ प्रीति वाले स्त्री-पुरुष हों, तब विद्वानों को बुला के उनके समीप वेदोक्त प्रतिज्ञा करके पति और पत्नी बने।[3]

२. जब स्त्री-पुरुष एक दूसरे की परीक्षा करके आपस में दृढ़ प्रीति वाले होंवे तब वेदोक्त रीति से यज्ञ का विस्तार और नियमानुसार विवाह करके धर्म से सन्तानों को उत्पन्न करें।[4]

(२५) स्वयम्वर विवाह

ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा है कि वह सुन्दरी वधू भाग्यशालिनी है, जो जनसमुदाय से अपना मित्र स्वयं चुनती है।[5] अथर्ववेद कहता है—यह पति की कामना लेकर आई है और मैं पत्नी की कामना लेकर।[6] यह स्पष्ट स्वयम्वर की ओर संकेत है। प्रजापति पुत्री सूर्या सावित्री के स्वयम्वर का उल्लेख है।[7] कृत्य-कल्पतरु में नारद को उद्धृत करते हुए लिखा है—पिता आदि कन्यादान करने वालों के अभाव में कन्या राजा के पास जा उसकी अनुमति से वर की परीक्षा करके कुल रूप आयु एवं ज्ञान के अनुरूप सवर्ण वर को चुने।[8]

---

१. षड् विवाहाः। ब्राह्मो दैव आर्षो गान्धर्वः क्षात्रो मानुषश्चेति ॥
वशिष्ठ स्मृ० २८–२९।

२. आश्वगृ० १.६.१।

३. यजु० १५.५४ भा०।

४. यजु० ११.५८ भा०।

५. भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥
ऋ० १०.२७.१२

६. एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ॥ अथर्व० २.३०.५।

७. प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीं तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन् ॥ ऐ ब्रा १७.१।

८. तत्र नारदः—यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत्। अनुज्ञया तस्य वरं परीक्ष्य वरयेत् स्वयं सवर्णमनुरूपञ्च कुलरूपवयःश्रुतैः ॥
गार्हस्थ्य काण्ड १२.२२

उस क्रान्तिकारी ऋषि ने ऐसे युग में वर तथा कन्या को परस्पर एक-दूसरे के गुण कर्म स्वभाव देखकर विवाह करने पर बल दिया था, जब वे एक-दूसरे को विवाह से पूर्व देख भी नहीं सकते थे। वे संस्कार विधि में लिखते हैं—हे मनुष्यो! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षा विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराकर स्वयम्वर विवाह कराओ तो वे कामना के योग्य, सब विद्याओं को जानने हारे, सत्कार के योग्य, शरीरात्म बलों से युक्त होके तुम्हारे लिये सब सुखों को प्राप्त कराने में समर्थ हैं।[१] क्योंकि—'जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है।[२] उनके मतानुसार, आर्यावर्त देश में जब तक ऐसी वर्ण व्यवस्था और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य, विद्या ग्रहण, उत्तमता से स्वयम्वर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी।

सत्यार्थप्रकाश में वे विवाह को माता-पिता के आधीन न मान कर लड़के लड़की के आधीन मानते हैं तथा उससे विरोध कम तथा सन्तान उत्तम होना बतलाते हैं तथा कहते हैं—जैसी स्वयम्वर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है।[३] वे यजुर्वेद भाष्य में अनेक स्थलों पर स्वयम्वर विवाह का उल्लेख करते हैं,[४] तथा उसके लिये राजनियम बनाने के लिये राजाओं से कहते हैं।[५] यजुर्वेदभाष्य में तो माता पिता तथा आचार्यों को भी इस प्रकार की विद्या तथा शिक्षा देने का उल्लेख है, जिससे कन्याएँ निश्चिन्त होकर दुर्व्यसन त्यागी तथा समावर्तन के पश्चात् स्वयम्वर विवाह करके पुरुषार्थी तथा सुखी रहें।[६]

(२६) कुमारियों को स्वयम्वर का उपदेश

यजुर्वेद में कुमारियों को भी स्वयम्वर का उपदेश दिया गया है। यथा—

१. सब ब्रह्मचर्याश्रम सेवन की हुई युवती कन्याओं को ऐसी आकांक्षा अवश्य रखनी चाहिये कि अपने सदृश रूप गुण-कर्म स्वभाव और विद्या वाले, अपने से अधिक बलयुक्त, अपनी इच्छा के योग्य, अन्तःकरण से जिस पर

---

१. विवाह प्रकरण, पृ० १५०।

२. वही, विवाह प्रकरण पृ० १५०।

३. सत्यार्थप्र०, समु० ४ पृ० १२१।

४. द्र० यजु० ३.४१। ८.१,५,६। ११.६३,६४। १२.३५,५३—५४,५६। १४.८। १५.८,५३। १७.६७। १६.१५,४४,४८। २०.४०। २५.४६। २६.२०। ३४.१०। ३५.७। ३८.२।

५. यजु० ३३.८४ तथा १५.४४।

६. यजु० १२.५४ तथा २६.२०।

प्रीति हो ऐसे पति को **स्वयम्वर** विधि से स्वीकार कर उसकी सेवा किया करें।[१]

२. हे कन्या लोगो ! तुम जो पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त युवती होकर अपने तुल्य वर के साथ **स्वयम्वर विवाह** करके गृहाश्रम का सेवन करो तो सब सुखों को प्राप्त हो और और सन्तान भी अच्छी होंवे।[२]

३. सब कुमारियों को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से व्याकरण, धर्मशिक्षा, आयुर्वेदादि पढ़ स्वयम्वर विवाह कर······।[३] ऐसे ही अन्य अनेक स्थानों पर स्त्री पुरुषों को स्वयम्वर विवाह करने को लिखा है।[४]

(२७) स्वयम्वर विवाह के लाभ

महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य में स्वयम्वर विवाह के निम्नलिखित लाभ बतलाए हैं—

१. बहुत ऐश्वर्य की प्राप्ति तथा नित्य उन्नति।[५]

२. पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति।[६]

३. गृहाश्रम की उन्नति।[७]

४. सब सुखों तथा उत्तम सन्तानों की प्राप्ति।[८]

५. सब सुखों की सिद्धि तथा आनन्द की उपलब्धि।[९]

६. उभयलोक सुख।[१०]

अतः यजुर्वेद भाष्य में महर्षि ने स्वयम्वर को उत्तम माना है।

विवाह दूर देश में हो—

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में ८ हेतु तथा संस्कारविधि में[११] ३ हेतु

---

१. ८.१ भा०।

२. १२.५३ भा०।

३. १६.१५ भा०।

४. ८.५। १२.३५। ११.६३,६४। १२.५६। १५.८,५३। १६.४८।

५. ८.५, १४.२। २५.४६।

६. ८.५।

७. १२.३५।

८. १२.५३। १६.४८। २६.२०।

९. १२.५४। १५.८। २०.४०।

१०. १२.५६।

११. सत्यार्थप्र०, समु० ४ तथा संस्कार वि० विवाह प्रकरण।

देकर तथा निरुक्त को उद्धृत कर विवाह के दूर देश में होने का समर्थन किया है। यजुर्वेद भाष्य में पावकवत् तेजस्वी विज्ञान युक्त पति को दूर देश से अति उत्तम गुण रूप और स्वभाव वाली कन्या की कीर्ति सुन के आने का उल्लेख मिलता है।[1]

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—मनुष्यों को चाहिये कि अपनी कन्या या पुत्र का समीप देश में विवाह कभी न करें। जितना ही दूर विवाह किया जाए उतना ही अधिक सुख होवे। निकट करने में कलह होता है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द दूर देश में तथा स्वयम्वर रीति से विवाह का होना उपयुक्त मानते हैं।

(२८) विवाह का स्थान

वर्तमान समय में प्रायः घर पर ही विवाह सम्पन्न किये जाते हैं। किन्तु महर्षि के अनुसार— विवाह के दो स्थान हैं, एक आचार्य का घर तथा दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने, आगे विवाह में लिखे प्रमाण सब विधि करें।[3] इसी भाँति सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं—जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है।[4] यजुर्वेद भाष्य में भी उल्लेख है कि—जब दोनों का विवाह करने में निश्चय होवे तभी माता-पिता और आचार्य आदि इन दोनों का विवाह करें।[5] यहाँ विवाह कराने वालों में माता-पिता के साथ आचार्य की गणना भी कदाचित् उपर्युक्त मत का द्योतक है।

(२९) गृहस्थ धारक तत्त्व

सब आश्रमों के मूल गृहस्थ को अनेक आचार्य वरीयता देते हैं।[6] ज्येष्ठता के साथ ही इस आश्रम का उत्तरदायित्व भी सर्वाधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ आश्रमों में रहते हुए अपने कर्तव्यों के पालन में मनुष्य को त्याग, तपस्या श्रम आदि के अत्यन्त कठिन व्रतों का पालन करना पड़ता है। अनेक प्रकार से राष्ट्र और समाज की उन्नति और रक्षा में सहयोग देना पड़ता है। महान् से महान् नैतिक आदर्शों के अनुसरण का अवसर मिलता है।[7] अपने प्रति, समाज तथा सम्बन्धियों के

---

१. यजु० ११.७२ भा०।
२. यजु० ११.७२ भा०।
३. सं वि० समावर्तन संस्कार पृ० १३४—३५।
४. सत्यार्थप्र०, समु० ४ पृ० १३५।
५. यजु० ११.६४ भा०।
६. बौधायन ध० २.६.११.२९। मनु० ३७८। यजु० ८.३३ भा०।
७. भारतीय संस्कृति का विकास—मंगलदेव शास्त्री, पृ० २१९।

प्रति ही नहीं अपितु अन्य प्राणियों के प्रति दायित्वों को निभाने के लिये उसे साधन जुटाने पड़ते हैं। जिनमें सदाचार धन आदि आते हैं। यजुर्वेद भाष्य में महर्षि लिखते हैं—इस बात का निश्चय है कि ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा, विद्या, शरीर और आत्मा का बल, आरोग्य, पुरुषार्थ, ऐश्वर्य, सज्जनों का संग, आलस्य का त्याग, यम नियम और उत्तम सहाय के विना किसी मनुष्य से गृहाश्रम धारा नहीं जा सकता। इसके विना धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इसका पालन सबको बड़े प्रयत्न से करना चाहिये।[१] धनादि के संचय के लिये पुरुषार्थ से सुवर्णादि का संचय, अश्वादि पशुओं का रक्षण तथा वीरों को रखे विना गृहाश्रम रूपी यज्ञ परिपूर्ण नहीं किया जा सकता।[२] धन प्राप्ति के लिये अग्नि विद्या का ज्ञान आवश्यक है। यजुर्वेद कहता है—धन की प्राप्ति के लिये वह (गृहस्थ) अग्नि विद्या का ज्ञान अवश्य करे।[३] हे मनुष्यो! तुम लोग लक्ष्मी प्राप्त कराने हारे अग्नि आदि पदार्थों को जान तथा उनको कार्यों में संयुक्त करके धनवान् होओ।[४] अग्नि तथा विद्युत् अग्नि से धन प्राप्ति का उल्लेख यजुर्वेद भाष्य में अनेक स्थानों पर हुआ है।[५]

धनादि पदार्थों के अर्जन के साथ ही यजुर्वेद भाष्य में विवाह समय व्यभिचार त्याग की प्रतिज्ञा कराते हुए कहा है कि स्त्री या पुरुष के लिये अप्रिय, आयुनाशक, निन्दा के योग्य कर्म व्यभिचार के समान दूसरा नहीं है।[६] अपनी स्त्री के नियम में पुरुष और पतिव्रता स्त्री होकर मिल कर चलें।[७] विवाह की इच्छुक युवती ऐसे पुरुष से विवाह करे जो छल कपट आदि से रहित, प्रकाश (ज्ञान का) करने वाला, एक ही स्त्री को चाहने वाला, जितेन्द्रिय, सब प्रकार से उद्यमी, धार्मिक तथा विद्वान् हो।[८]

पत्नी की रक्षा तथा प्रसन्नता का ध्यान रखना भी पति का कर्तव्य है। इसके विना भी गृहस्थ सुखपूर्वक नहीं चल सकता। यजुर्वेद में कहा है—वह पति भी स्त्री की रक्षा और उसकी प्रसन्नता करने को नित्य उत्साही हो।[९] पत्नी भी

---

१. ८.३१, भा०।
२. यजु० ८.६३ भा०।
३. ३.२४ तथा ३.४५ भा०।
४. ११.२४ भा०।
५. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्या न्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ ११.२५ तथा ११.२८। १५.२१, २६–२७, ३१–३३ तथा ३५ भी द्रष्टव्य।
६. ११.४८।
७. ११.६४ भा०।
८. ८.२ भा०।
९. ८.२६ भा०।

ति से यही कामना करती है कि जैसे मैं सेवा के योग्य, आनन्दचित्त आपको प्रति-
न चाहती हूँ, वैसे आप भी मुझको चाहो और पुरुषार्थ भर मेरी रक्षा करो।[1]

(३०) स्त्री का पति के प्रति व्यवहार तथा कर्तव्य

यजुर्वेद भाष्य आदि में पत्नी के निम्नलिखित कर्तव्यों का उल्लेख हुआ है—

१. पतिव्रता होना, जैसाकि पीछे वतला आए हैं।

२. अपने गुणों से पति को आकृष्ट कर प्रसन्न रखना तथा निम्न गुण युक्त स्त्रियों से उसकी रक्षा करना।

ये गुण भी व्यक्ति को आकर्षित करते हैं।

क–श्रेशी—जलवत् निर्मल विद्या में व्याप्त सुशीलत्व गुण वाली।

ख–कुकूनना—निरन्तर शब्द विद्या से नमनशील।

ग–भन्दना—कल्याणकारी आचरणों जैसी।

घ–भदिन्तमा— अत्यन्त प्रसन्न सदैव हँसते रहने के स्वभाव वाली।

ङ–मधुन्तमा—अत्यन्त मीठा बोलने वाली।

उपर्युक्त गुणों से आकृष्ट होकर पुरुष पत्नीव्रत को शिथिल कर सकता है, तः पत्नी स्वपति को इस प्रकार की स्त्रियों से वचाए।[2] एक मन्त्र के भाष्य में द्वानों से शिक्षित स्त्री तथा अन्य स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म सिखाए जिससे किसी भाँति अधर्म की ओर न डिगे।[3]

(३१) उत्तम भोजन निर्माण

पाक विद्या का ज्ञान भी नारी का कर्तव्य है, जिससे ऋत्वनुकूल भोजन बना र परिवार के शरीर, मन तथा आत्मा को नीरोग रखा जा सके। मनु ने भी सदा सन्न रहना, गृहकार्यों में दक्षता, उत्तम भोजन निर्माण तथा व्यय में खुला हाथ न बना नारी के कर्तव्य बतलाए हैं।[4] यजुर्वेद शिक्षित स्त्रियों को परीक्षित पदार्थ ाने तथा पति को खिलाने का उल्लेख करता है, जिससे बुद्धि वल और विद्या की द्धि हो।[5] खान-पान के पदार्थ रुचिकर बनवावे या वनावे।[6]

---

१. ८.२७ भा०।

२. द्र० ८.४८।

३. ८.४३।

४. सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्कटया व्यये चामुक्त-हस्तया॥ मनु० ५.१५०।

५. यजु० ८.४२।

६. ११.६६॥

(३२) पति के धन की सुरक्षा तथा वृद्धि

गृहस्थ शकट के दो चक्र पति-पत्नी में से पति धन अर्जन करके लाता है तथा पत्नी उसकी रक्षा एवं वृद्धि करती है। यजुर्वेद कहता है—स्त्री धनादि पदार्थों को भी बढ़ाती रहे।[1] वह अपने पति के आश्चर्य रूप अन्नादि पदार्थ वाले सेवनीय प्राचीन धन की रक्षा करे।[2] पतिव्रता स्त्री तो अपने पति के सुख के लिये धन तथा घृतादि वस्तु सम्भाल कर रखती है।[3] वह तो 'राधोमूर्त्ता' अर्थात् धन की उन्नति करने वाली है।[4] अतः धन की सुरक्षा तथा वृद्धि भी उसका कर्तव्य है।

(३३) धार्मिक कृत्यों में पति का सहयोग

स्वयं पत्नी शब्द ही धार्मिक विधि—यज्ञ की स्मृति दिला देता है। क्योंकि अष्टाध्यायी के अनुसार यज्ञ का संयोग ही पत्नी बनाता है।[5] महर्षि ने भी पत्नी शब्द का अर्थ 'यज्ञ में सहाय देने वाली' किया है।[6] यजुर्वेदभाष्य में ब्रह्मचारिणी कन्या को अन्य सुखद पतियों के निकट रहने वाली तथा अग्निहोत्र आदि कर्म का अनुष्ठान करने वाली स्त्रियों जैसा बनने का उल्लेख है। इसी मन्त्र के भावार्थ में गुरु-पत्नी को अग्निहोत्रादि कर्मों में स्थिर बुद्धि रखने वाली कहा है।[7] इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ यज्ञादि धार्मिक कृत्यों में अपने पति की सहयोगिनी होती हैं।

इसी प्रकार पति की तृप्ति तथा उसके अपराधों को क्षमा करना भी पत्नी का कर्तव्य बतलाया है।[8]

(३४) पति पत्नी के सम्मिलित कर्तव्य

यजुर्वेद तथा पारस्कर गृह्यसूत्र में स्त्री को भूमि तथा पुरुष को द्युलोक कहा गया है।[9] पारस्कर के वचन का अर्थ करते हुए संस्कार विधि में कहा है—तू पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करने हारी है और मैं वर्षा कराने

---

१. ८.४२।
२. मित्रस्य चर्षणीधृतोऽव देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्।। ११.६२ का पदार्थ।
३. आ जुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।।
४. ६.३४।
५. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।। अ० ४.१.३३।
६. यजु० ६.३४।
७. ६.२५ प० तथा भा०।
८. १३.२६।
९. मही द्यौः पृथिवी च इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।।८.३२।
द्यौरहं पृथिवी त्वम्।। पार० गृ० १.६.३।

हारे सूर्य के समान हूँ।[1] यजुर्वेद भाष्य में इसको और स्पष्ट करते हुए लिखा है—'जैसे सूर्य लोक जलादि पदार्थों को खींच कर और वर्षा कर रक्षा और पृथिवी आदि पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे यह पति श्रेष्ठ गुण और पदार्थों का संग्रह करके देने से रक्षा और विद्या आदि गुणों से प्रकाशित करता है। तथा जिस प्रकार यह पृथिवी सब प्राणियों को धारण कर उनकी रक्षा करती है वैसे स्त्री गर्भ आदि व्यवहारों को धारण कर सबकी पालना करती है।[2] अतः पुरुष का कर्तव्य बाहर से पदार्थ लाना तथा स्त्री का कुल वृद्धि आदि है।

(३५) सहभोज

विशेष अवसरों पर पत्नी द्वारा अपनी सहेलियों तथा पति द्वारा अपने इष्ट मित्रादि के आमन्त्रण तथा सत्कार का उल्लेख करते हुए यजुर्वेद भाष्य में कहा गया है—अच्छे उत्साह बढ़ाने वाले कामों में गृहस्थ स्त्री अपनी सहेलियों या पुरुष अपने इष्टमित्र और बन्धुजन आदि को बुला कर भोजन आदि पदार्थों से यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करें और परस्पर भी सदा प्रसन्न रहें।[3]

(३६) पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि

मनु के अनुसार मोक्ष और सांसारिक सुख का इच्छुक दुर्बलेन्द्रिय से धारण न करने योग्य गृहाश्रम का प्रयत्न से धारण करे।[4] यजुर्वेद भाष्य में उल्लेख है कि—स्त्री पुरुष······स्वयम्वर विवाह करके ऐसा यत्न करें कि जिससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हों।[5] अतः गृहस्थ का कर्तव्य पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करना भी है।

(३७) अन्य कर्तव्य

पति-पत्नी के कुछ कर्तव्यों का यजुर्वेद भाष्य के अनुसार संक्षेप से उल्लेख किया जाता है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दोनों विद्या की वृद्धि तथा बालकों और कन्याओं को शिक्षा दिया करें।[6] परस्पर मित्र होकर संसार में विख्यात होवें। जैसे अपने लिये वैसे ही औरों के लिये भी अत्यन्त सुख करने वाले धनों को उन्नति युक्त करें। परम पुरुषार्थ से गृहाश्रम की शोभा करें और वेदविद्या का निरन्तर प्रचार

---

१. सं० वि० विवाह प्रकरण, पृ० १७५।
२. ८.३२ भा०।
३. ८.१२ भा०।
४. स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो-दुर्बलेन्द्रियैः। ३.७९।
५. ८.६ भा०।
६. ८.४३ भा०।

करें।[1] एक-दूसरे की प्रसन्नता के लिये प्रयत्नशील रहें तथा परस्पर अनुमोद से गृहाश्रम धर्म को पूर्ण करें।[2] एक दूसरे का अनिष्ट चिन्तन मन से भी न करें।[3] दोनों प्रसन्न हुए प्रीति के साथ घर के कार्य सम्भालें।[4] सुख और सन्तानों से शोभायमान होके घर के कार्य करें।[5] दोनों श्रेष्ठ गुणवान् विद्वानों के संग से शुद्ध आचरण का ग्रहण कर शरीर और आत्मा के आरोग्य को प्राप्त कर अच्छे अच्छे सन्तानों को उत्पन्न करें।[6] दोनों व्यभिचार से पृथक् रहें।[7] युद्ध में भी दोनों साथ रहें।[8] परस्पर सेवा करें तथा जैसे प्यासे प्राणियों को जल तृप्त करता है वैसे अच्छे स्वभाव के आनन्द से स्त्री-पुरुष भी परस्पर प्रसन्न रहें।[9] शरीर तथा आत्मा के बल बढ़ाने का उपदेश करने वाले विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्री की सेवा तथा सत्संग नित्य करें तथा तुच्छ बुद्धिवाले स्त्री-पुरुषों का संग कदापि न करें।[10] सत्य व्यवहार से धन प्राप्ति तथा कीर्तिकर कर्म करें।[11] जो स्त्री का पदार्थ है वह पुरुष का और जो पुरुष का है वह स्त्री का भी होवे। इस विषय में कभी द्वेष नहीं करना चाहिये किन्तु आपस में मिलके आनन्द भोगें।[12] जैसे घोड़े आदि पशुओं के खाने के लिये पशुपालक दूध आदि पदार्थ नित्य इकट्ठे करते रहते हैं वैसे अपने ऐश्वर्य को बढ़ाके अन्यों को सुख देवें। और धन के अहंकार से किसी के साथ ईर्ष्या कभी न करें किन्तु दूसरों की वृद्धि वा धन देखकर सदा आनन्द भोगें।[13] इस पर परस्पर तथा अन्यों के साथ व्यवहार करके गृह को स्वर्ग बनाने में स्त्री पुरुष सदैव प्रयत्नशील रहें।

(३८) गृहस्थों के वस्त्राभूषण

विवाहित स्त्री पुरुषों को चाहिये कि जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब जगत् को

---

१. १७.६८ भा०।
२. ६.३४ भा०।
३. ११.३६, ५२ भा०।
४. ११.३६ भा०।
५. ११.५२ भा०।
६. ११.५३ भा०।
७. ११.४६, ६४ भा०।
८. ११.५० तथा १४.३ भा०।
९. ११.५१ भा०।
१०. ११.६५ भा०।
११. ११.६७ भा०।
१२. ११.७४।
१३. ११.७५।

प्रकाशित करता है वैसे ही अपने सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से शोभायमान होके घर आदि वस्तुओं को सदा पवित्र रखें।[1] यजुर्वेद भाष्य में स्त्री को नित्य ही वस्त्र और आभूषणों से अपने शरीर को सजाने का उल्लेख मिलता है। वहाँ स्त्री को 'स्वावेशा' अर्थात् सुन्दर वेशवाली कहा है[2] तथा स्त्री पुरुषों को "सम्वसानौ" अर्थात् सुन्दर वस्त्राभूषणों से युक्त कहा है।[3]

इससे स्पष्ट है कि गृहस्थ स्त्री पुरुष सुन्दर, स्वास्थ्योपयोगी, ऋत्वनुकूल वस्त्र तथा आभूषणों का धारण कर सकते हैं।

(३६) गृहस्थों का भोजन

भोजन का जीवन से बहुत सम्बन्ध है। "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः" आदि वाक्य शुद्ध भोजन करने की ओर इंगित करते हैं। किन्तु कतिपय विद्वान् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के मांसादि निषेध का तात्पर्य यह लेते हैं कि गृहस्थ को मांस खाने की छूट थी। उवट महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य में पशुओं की बलि देने का उल्लेख किया है। किन्तु महर्षि के यजुर्वेद भाष्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण यजुर्वेद में कहीं भी मांसभक्षण का विधान नहीं है, अपितु निषेध है।[4] यजुर्वेद भाष्य में[5] चावल और साग के धान, जौ, अरहर, उड़द, मटर, तिल, नारियल, मूंग, चने, कंगुनी, सूक्ष्म चावल (इसे सहारनपुर जनपद में मकड़ा कहते हैं) समा (सांवा), मडुवा, पटेरा, चेना, आदि छोटे अन्न नीवार, गेहूँ तथा मसूर सब अन्नों के दाता परमेश्वर से समर्थ हों। महर्षि ने इस मन्त्र के भावार्थ में सब मनुष्यों को चावल आदि से अच्छे प्रकार संस्कार किये हुए भात आदि को बना अग्नि में होम करके स्वयं खाने तथा अन्यों को खिलाने का उल्लेख किया है।[6] कुमारियां भी स्वयम्वर विवाह के पश्चात् ओषधियों तथा औषधिवत् अन्न और दाल कढी को अच्छा पका, उत्तम, रसों से युक्त कर पति आदि को भोजन कराकर स्वयं करके बल

---

१. वासो अग्ने विश्वरूपँ् संव्ययस्व विभावसो ॥ ११.४० विश्वरूपम्—विविधस्वरूपम् दयानन्दः

२. सदैवात्युत्तमैर्वस्त्रभूषणैः शरीराणि संसृज्य वर्तेरन्। स्वावेशा—सुष्ठु समान्ताद् वेशो यस्याः सा (महर्षि दयानन्दः) १४.३

३. ६.१४–१६, ८.२८–३१, २३.१७–१९ का उवट—महीधर भाष्य।

४. यज्ञ में प्रचलित हिंसा पर विचार, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में देखिए।

५. व्रीहयश्च मे यवाश्च में माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे ऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १८.१२ पर म. दयानन्द भाष्य।

६. १८.१२ भा०।

तथा आरोग्य की सदैव उन्नति करें।[1] अथर्ववेद में भी व्रीहि, यव, माष और तिल के खाने तथा किसी नरमादा की हिंसा न करने का काव्यमय वर्णन है।[2] अतः गृहस्थों को चावल आदि सात्विक अन्नों तथा दाल कढ़ी आदि व्यंजनों का भोजन करना चाहिये। एक मन्त्र में घर पर आए पितरजनों की घी दूध फलों के रस आदि से सत्कार करने का उल्लेख है।[3] अतः ये भी सात्विक भोजन के अंग हैं।

(४०) सन्तानोत्पत्ति

सन्तानोत्पत्ति भी गृहस्थ के मुख्य कर्तव्यों में से एक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण सन्तान को 'हृदय'[4] और 'तन्तु'[5] तथा शतपथ 'विश्वज्योतिः'[6] कहता है। ये प्रेमाधिक्य, कुलतन्तु की वृद्धि तथा हर्ष एवं आशा की ज्योति के प्रतीक वचन हैं। शतपथ तथा गोपथ कहते हैं—'पूर्व वयस में पुत्र पिता द्वारा पाले जाते हैं तथा उत्तरवयस में पुत्र पिता को पालते हैं।[7] ऐतरेय पुत्रविहीन के लिये कोई लोक नहीं मानता।[8] ऐतरेय तथा आपस्तम्ब कहते हैं कि सन्तान, गृहस्थ का अमरत्व है क्योंकि तुम अपनी सन्तान के रूप में पुनः उत्पन्न होते हो।[9] यजुर्वेद भाष्य में कहा है—जैसे वायु सबके जीवन का मूल है वैसे उत्तम सन्तान सबके सुख के निमित्त होते हैं।[10] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में आवश्यकतानुसार १० पुत्रों के उत्पन्न करने का आदेश तथा उनको शिक्षा देकर ऐश्वर्य वृद्धि कर प्रीति पूर्वक रमण करने का उल्लेख है।[11]

यजुर्वेद भाष्य में स्त्री पुरुषों को वीर्य वाले पुरुषार्थी होकर अन्नादि से विद्वान्

---

१. १६.१५।

२. व्रीहिमत्त यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ ६.१४०.२

३. ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ २.३४

४. पुत्रो हि हृदयम्॥ तै० २.२.७.४।

५. प्रजा वै तन्तुः॥ ऐत० ३.११.३८

६. प्रजा वै विश्वज्योतिः॥ श० ६.५.३-५, ७.४.२.२६

७. तस्मादुत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीत्युप ह्वा एनं पूर्ववयसे पुत्रा जीवन्ति॥ श० १२.२.३.४

उपह्वा पूर्वे वयसि पुत्रा पितरमुपजीवन्त्युपोत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति॥ गो० पू० ४.७

८. नापुत्रस्य लोकोऽस्ति॥ रो० ७.१३॥

९. ऐतरेय ब्रा० ३३.१, आप० २.१४.१

१०. २७.३३ भा०।

११. ऋ० १०.८५.४५ तथा यजु० ८.१ भा०।

को प्रसन्न कर धर्म से सन्तानोत्पत्ति करने[1] एवं सत्य आचरणों से सन्तानों को उत्पन्न कर बहुत ऐश्वर्य को प्राप्त होके नित्य उन्नति करने का उल्लेख मिलता है।[2]

यह भी ध्यान रखें कि—स्त्री पुरुष उत्कण्ठापूर्वक संयोग करके जिन सन्तानों को उत्पन्न करें वे उत्तम गुणवाले होते हैं।[3] धर्म, सत्याचरण तथा उत्कण्ठा के साथ ही 'सावधानी से गर्भाधानादि संस्कारों की रीति के अनुकूल अच्छे सन्तान उत्पन्न करके उनमें वेद, ईश्वर और विद्यायुक्त बुद्धि उत्पन्न करें। क्योंकि ऐसा अन्य धर्म अपत्य सुख का हितकारी कोई नहीं है।[4] यह भी स्मृतव्य है कि—जिसके माता और पिता विद्वान् न हों उनके सन्तान भी उत्तम नहीं हो सकते।[5] अतः 'जो मनुष्य दुर्गुण और दुष्ट संगों को छोड़ कर व्यभिचार से दूर रहते हुए वीर्य को बढ़ा के सन्तानोत्पत्ति करते हैं, वे अपने कुल को प्रशंसित करते हैं।[6]

अतः सदाचार और सत्याचरण का पालन करते हुए इच्छापूर्वक गर्भाधान की रीति से विद्वान् व्यक्ति सन्तानों को उत्पन्न करें, यह यजुर्वेद भाष्य से स्पष्ट है।

(४१) सन्तान का पालन और निर्माण

गृहस्थ को ऐसे कार्य करने हैं जो उसे भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल में सुख प्रदान करें।[7] उसके भविष्य का आधार उसकी सन्तान है। अतः माता-पिता को यह भी चाहिये कि वे अपने पुत्रों को अधर्म और कुशिक्षा से युक्त कभी न करें।[8] क्योंकि—सन्तानों के लिये विद्या और अच्छी शिक्षा का प्राप्त कराना माता पिता और आचार्य का परम धर्म है।[9]

सन्तान के पालन तथा निर्माण के लिये यजुर्वेद भाष्य में निम्नोक्त बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है—

१. उन्हें (सन्तानों को) अच्छी शिक्षा देकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करे।[10]

---

१. १९०८७ तथा १२.३५ भा०।
२. ८.५ भा०।
३. २६.२४ भा०।
४. १२.५१ भा०।
५. ८.९ भा०।
६. १९.८४ भा०।
७. ८.६ भा०।
८. १२.३९ भा०।
९. १२.४५ भा०।
१०. ८.१ भा०।

२. स्त्री-पुरुष अपने सन्तानों आदि को विद्यादि गुणों से सुभूषित करें ।[1]

३. माता-पिता को चाहिये कि अपने सन्तानों को विद्यादि अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त कराकर अच्छे प्रकार से उनके शरीर की रक्षा करें, जिससे वे भी नीरोग शरीर हों और उत्साह से गुण सीखें ।[2]

४. विद्वान् माता-पिता और आचार्यों को उचित है कि अपने पुत्र आदि को अच्छे प्रकार उपदेश से शरीर और आत्मा के बलवाले करें ।[3]

५. इस संसार में माता-पिता बन्धुवर्ग तथा मित्रवर्गों को चाहिये कि अपने सन्तान आदि को अच्छी शिक्षा देके ब्रह्मचर्य करावें जिससे वे गुणवान् हों ।[4]

६. जिन माता-पिताओं के सन्तान विद्या, अच्छी शिक्षा और ब्रह्मचर्य सेवन से शरीर और आत्मा के बल से युक्त, धर्म का आचरण करने वाले हैं वे ही सदा सुखी हों ।[5]

७. जो सन्तान वा विद्यार्थी को विद्वान् बनने की बुद्धि देते, दुष्टाचरणों से पृथक् रखते, कल्याण कारक कर्मों को सेवन कराते हैं वे ही इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं इससे विपरीत नहीं ।[6]

इस प्रकार सन्तान सुख तथा अपने ऐहिक, आमुष्मिक सुख प्राप्ति के लिये सन्तान का पालन तथा निर्माण माता-पिता का अत्यावश्यक कर्तव्य है ।

(४२) सन्तान की शिक्षा

इस विषय में ब्रह्मचर्य प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु यजुर्वेद भाष्य के कतिपय स्थलों को यहाँ उद्धृत करना भी अप्रासंगिक न होगा ।

यथा हि :—

१. माता-पिताओं को यह अति उचित है कि सन्तानों को उत्पन्न कर बाल्यावस्था में आप शिक्षा दें, ब्रह्मचर्य करा, आचार्य कुल में भेज के विद्यायुक्त करें ।[7]

---

१. १२.२४ भा० ।
२. ६.३६ भा० ।
३. ३.५५ भा० ।
४. ६.९ भा० ।
५. १२.१०८ भा० ।
६. ९.४ भा० ।
७. १२.१०७ भा० ।

२. माता-पिता अपने पुत्र तथा कन्याओं को अच्छी शिक्षा देके पीछे विद्वान् और विदुषी के समीप बहुत काल तक स्थिति पूर्वक [रखकर] पढ़वावें। तब वे कन्या और पुत्र सूर्य के समान अपने कुल और देश के प्रकाशक हों।[1]

३. जब तक कन्या पुत्र आठ वर्ष के हों तब तक माता पिता उनको अच्छी शिक्षा देवें, इसके पीछे ब्रह्मचर्य धारण कराके विद्या पढ़ाने के लिये अपने घर से बहुत दूर आप्त विद्वान् पुरुषों और आप्त विदुषी स्त्रियों की पाठशाला में भेज देवें। वहाँ पाठशाला में जितने धन का खर्च करना उचित हो उतना करें, क्योंकि सन्तानों को विद्यादान के विना कोई उपकार वा धर्म नहीं बन सकता। इसलिये इसका निरन्तर अनुष्ठान किया करें।[2]

४. ······जिस गृहाश्रम में स्त्री-पुरुष प्रशंसनीय गृहाश्रम के धर्म को प्राप्त होते हैं, उसमें कामना देने वाला, निष्पाप, धर्मात्मा, पुरुषार्थी, वृद्धावस्था के दुःखों से रक्षा करने वाला पुत्र उत्पन्न होता है और वह उत्तम धन को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह विद्या, कुटुम्ब और धन के ऐश्वर्य से बढ़ता है।[3]

अतः सन्तानोत्पत्ति, उत्तम शिक्षा दिलाना, धनार्जन, धर्मपालन, सबसे यथा-योग्य व्यवहार करने तथा विद्यादि ऐश्वर्य से सन्तान को सम्पन्न कराना गृहस्थ का कर्तव्य है। महर्षि यह भी लिखते हैं कि—जैसे निवृत्ति मार्ग में परमयोगी योगबल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है वैसे ही अन्य गृहस्थ लोगों को भी प्रवृत्तिमार्ग में सब ऐश्वर्य को प्राप्त होना चाहिये।[4]

वानप्रस्थाश्रम

(४३) वानप्रस्थ और उसका काल

याज्ञवल्क्य स्मृति (३.४५) की मिताक्षरा टीका के अनुसार वन में प्रकृष्ट रूप से नियम पालन करते हुए रहना वनप्रस्थ है, वही संज्ञा में दीर्घ होकर वानप्रस्थ कहलाता है।[5] क्षीरस्वामी का भी प्रायः ऐसा ही मत है।[6]

---

१. ११.३६ भा०।

२. ११.५८ भा०।

३. ······पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे।
८.५ १०

४. १६.६१ भा०।

५. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थ, वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः संज्ञायां दैर्घ्यम्।

६. प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् प्रस्थः, वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थो वैखानसाख्यः ॥
क्षीरस्वामी

मनु के अनुसार गृहस्थ जब देखें कि शिर के बाल सफेद हो गए हैं तथा मुख पर झुर्रियां आ गई हैं एवं पुत्र का भी पुत्र हो गया है तब गृहस्थ के कार्यों से उपरत होकर आत्मोन्नति के लिये घर छोड़कर बन में प्रवेश करें।[1] वानप्रस्थ ग्राम के सब आहारों तथा वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ अथवा यदि उसकी साथ चलने की इच्छा हो तो उसे साथ लेके बन में प्रवेश करे।[2] ऋग्वेद का एक रहस्यात्मक सूक्त है, जिसमें कहा है—हे अरण्यानि ! जो तू हम गृहस्थों से विमुख होकर चली आई है, क्यों ग्राम की बातों में रुचि नहीं लेती, क्या तुझे भय नहीं लगता।[3] इससे प्रतीत होता है कि पति की वानप्रस्थ से पूर्व मृत्यु होने पर यदि स्त्री की इच्छा होती थी तो वह अकेली भी वानप्रस्थ ले सकती थी।

सौ वर्ष की आयु के चार विभाग करके प्रत्येक आश्रम की २५–२५ वर्ष की अवधि मानी है। नारद परिव्राजकोपनिषद् तथा कुल्लूक (मनु० ३.५०) ने इसी की पुष्टि की है।[4] किन्तु यह मान्यता सर्वत्र उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ४८ वर्ष में विवाह करने वाला आदित्य ब्रह्मचारी ५० वें वर्ष में वानप्रस्थ कैसे ले सकेगा। इसलिये मनु की उपर्युक्त व्यवस्था ही उपयुक्त है, जिसमें पौत्र का होना आवश्यक बतलाया है।

(४४) वानप्रस्थ के भेद

महर्षि दयानन्द ने अपने किसी भी ग्रन्थ में वानप्रस्थ के भेदों का उल्लेख नहीं किया किन्तु नारदपरिव्राजकोपनिषद् ने चार प्रकार के वानप्रस्थ की चर्चा की है।[5] आश्रमोपनिषद् ने वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य तथा फेनप इन चार प्रकार के वानप्रस्थों का उल्लेख किया है।[6] वैखानस धर्म प्रश्न में सपत्नीक तथा अपत्नीक इन दो प्रकार के वानप्रस्थों की चर्चा करके उनके निम्नलिखित भेद हैं—

सपत्नीक के चार भेद हैं—औदुम्बर, वैरिञ्च, बालखिल्य तथा फेनप।[7] अपत्नीकों के उनकी तपस्या तथा भोजन के आधार पर ३१ भेद किये हैं। यथा—कालशिक, उद्दण्डसंवृत्त, अश्मकुट्ट, उदग्रफली, दन्तोलूखलिक, उञ्छवृत्तिक, सन्दशनवृत्तिक, कपोतवृत्तिक, मृगचारिक, हस्तादायी, शैलफलादी, अर्कदुग्धाशी, बैल्वासी,

---

१. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ मनु० ६.२

२. ६.३ मनु०।

३. ऋ० १०.१४६.१।

४. ना० प० १.१।

५. चतुर्विधं वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य॥ ना० प० उ० ११, पृ० ३०६

६. आ० उ० ३।

७. वैखानस धर्म प्रश्न १. ७, २।

कुसुमाशी, पाण्डुपत्राशी, कालान्तरभोजी, एककालिक, चतुःकालिक, कण्टकशायी, वीरासनशायी, पञ्चाग्निमध्यशायी, धूमाशी, पाषाणशायी, अभ्यवगाही, उदकुम्भवासी, मौनी, अवाक्छिरस, सूर्य प्रतिमुख, ऊर्ध्वबाहुक, अधोबाहुक तथा एकपादस्थित ।[1]

बौधायन ने वानप्रस्थ के पचमानक तथा अपचमानक ये दो भेद किये हैं। पचमानकों के पाँच भेद किये हैं—सर्वारण्यक, वैतुषिक, कन्दमूलभक्ष, फलभक्ष, तथा शाकभक्ष । सर्वारण्यकों के पुनः दो भेद किये हैं—इन्द्रावसिक्त तथा रेतोवसिक्त । अपचमानों के भी पाँच भेद किये हैं—उन्मज्जक, प्रवृत्ताशी, मुखेनादायी, तोयाहार तथा वायुभक्ष ।[2]

यद्यपि वानप्रस्थ के अनेक भेद हमें मिलते हैं। किन्तु इनमें से कुछ ऐसे हैं जो वानप्रस्थ की मूल भावना से मेल ही नहीं खाते । जैसा कि वाघ, भेड़िया, बाज आदि द्वारा मारे गये पशु पक्षियों को लाकर उनका माँस पकाकर, उसी से हवन करके भिक्षुओं तथा अतिथियों को देने के पश्चात् खाने वाले को 'रेतोवसिक्त' कहा है ।[3] जबकि मनु ने नाना प्रकार के मुनियों के पवित्र अन्नों तथा शाकमूलफलों से महायज्ञों के करने तथा उन्हीं के खाने का वानप्रस्थ को विधान किया है[4] तथा मद्य मांस का निषेध किया है ।[5] सम्वर्त की भी यही मान्यता है ।[6] अतः वानप्रस्थ के जो लक्षण वेद तथा मनु ने बतलाए हैं वही मान्य है । शेष तो ज्ञानवर्धन मात्र के लिये उद्धृत कर दिये गए हैं। ऋग्वेद का अरण्यानी सूक्त वानस्थ का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करता है ।[7]

(४५) वानप्रस्थ के कर्त्तव्य

यजुर्वेद (१६२९) में 'गिरिशयाय' शब्द आया है। जिसका अर्थ महर्षि "यो गिरिषु पर्वतेषु श्रितः सन् शेते तस्मै वानप्रस्थाय" अर्थात् पर्वतों पर सोने वाला करते

---

१. वैखानस धर्म प्रश्न १, ८, १ ।

२. बौ० धर्मसूत्र ३. ३. ४. १–४, ६ ।

३. रेतोवसिक्ता नाम मांसो व्याघ्रवृकश्येनादिभिरन्यतमेन वा हतमानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिभ्यश्च दत्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः ॥ वही ३, ३, ६ ।

४. मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद् विधि-पूर्वकम् ॥ मनु० ६, ५ ।

५. वर्जयेन्मधुमांसं च ॥ ६, १४ ।

६. कुर्याच्चैव पुरोडाशं वन्यैर्मेध्यैर्यथाविधि । भिक्षां च भिक्षवे दद्याच्छाकमूल-फलानि च ॥ सं० स्मृ० श्लोक ९९ ।

७. ऋ० १०. १४६ ।

हैं। इससे स्पष्ट है कि वह घर को छोड़कर वनों या पर्वतों का आश्रय लेता है। संस्कारविधि में यजुर्वेद के दो मन्त्रों को उद्धृत किया है।[1] जिनका अर्थ है—

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादिव्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस व्रत से उत्तम प्रतिष्ठा रूप दीक्षा को धारण करता है। ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से सत्कार पूर्वक धनादि को प्राप्त होता है, उस सत्कार से सत्यधारण में प्रीति को प्राप्त होता है। और सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से सत्यविज्ञान वा सत्यपदार्थ मनुष्य को प्राप्त होता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके **वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये**।[2]

महर्षि संन्यास के लिये ब्राह्मणत्व का होना आवश्यक मानते हैं, किन्तु वानप्रस्थ आश्रम सबके लिये अनिवार्य मानते हैं। इस मन्त्र में मानव का जो लक्ष्य सत्यप्राप्ति है उसी के लिये वानप्रस्थ को तत्पर रहने का भाव लक्षित होता है।

दूसरे मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की है कि—हे नियमपालकेश्वर ! दीक्षा को प्राप्त होता हुआ मैं तुझमें स्थिर हो के ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण करता हूँ और उसकी सामग्री सत्य की धारणा को और उसके उपायों को प्राप्त होता हूँ। इसीलिये अग्नि में जैसे समिधा को धारण करता हूँ वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ। और वैसे ही तुझको अपने आत्मा में धारण करता और सदा प्रकाशित करता हूँ।[3]

यहाँ परमात्मा में स्थिर होके सत्यविद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करना और परमात्मा को अपने आत्मा में धारण कर प्रकाशित करना अर्थात् आत्मा में उसका साक्षात् करना वानप्रस्थ के कर्त्तव्य बतलाए गए हैं।

मनु ने स्वाध्याय, में नित्ययुक्त जितात्मा, सबका मित्र, एकाग्र, विद्यादि का दाता, किसी से कुछ न लेने वाला, सब पर दयालु, शरीर के लिए अति प्रयत्न न करने वाला, ब्रह्मचारी, भूमिशायी, स्वाश्रित व्यक्तियों तथा पदार्थों में ममता रहित तथा वृक्षमूल में निवास करने वाला वानप्रस्थी को बतलाया है। उसे दर्शपौर्णमास्येष्टि भी करनी है।[4] सम्वर्त की भी यही मान्यता है।[5] अपने हाथ से लाए हुए बसन्त

---

१. संस्कारविधि, वानप्रस्थाश्रम प्रकरणम्, पृ० २६६।

२. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ यजु० १९.३०।

३. अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वादीक्षितो अहम् ॥ यजु० २०, २४।

४. मनु० ६. ८६, २६।

५. सं० स्मृ० ९८--१००।

और शरद् में उत्पन्न हुए पवित्र मुनियों के अन्न से चरु तथा पुरोडाश बनाकर यज्ञ करे तथा यज्ञ शेष को लवण मिलाकर खाए।[1] धर्मसूत्रों में वानप्रस्थ के नियमों का उल्लेख हुआ है।[2] आपस्तम्ब वानप्रस्थ को अग्नि के लिये घर बनाने, स्वयं खुले आकाश के नीचे रहने तथा शय्या या आसन पर किसी प्रकार आच्छादन न रखने का विधान करता है।[3] यह तपोनुष्ठान सीमा अधिक है अतः मनु का 'वृक्षमूल-निकेतनः' ही उपयुक्त है। मध्यम मार्ग का अवलम्बन ही दीर्घजीवी होता है।

संन्यास

(४६) संन्यास शब्द का अर्थ

संन्यास शब्द दो पदों से मिलकर बना है—'सम्' तथा 'न्यास' सम्। का अर्थ सम्यक्तया तथा न्यास का अर्थ त्याग अथवा उपवेश, अर्थात् स्थिर होना है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि में संन्यासी के अर्थ में इन दोनों का ही ग्रहण किया है, जो इस प्रकार है—"सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन्, यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः"[4], "सम्यङ् न्यस्यन्ति अधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः[5]।

इस परिभाषा के अनुसार अधर्माचरण, दुष्टकर्मों का त्याग तथा ब्रह्म एवं सत्कर्मों में स्थिर होने का नाम संन्यास है।

मैत्रेटयुपनिषद् में कहा गया है कि कर्मों का त्याग संन्यास है तथा न वह प्रेषोच्चारण से होता है, आत्मा के साथ परमात्मा के मिलन का नाम संन्यास है।[6]

संस्कारविधि में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—संन्यास संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे।[7] गीता के अनुसार, कर्मफल पर आश्रित न रह कर कर्त्तव्य भावना से कर्म करने वाला ही संन्यासी तथा योगी है, अग्नि का परित्याग करने वाला तथा क्रिया-हीन नहीं। काम्यकर्मों का छोड़ना ही क्रान्तदर्शी लोगों ने संन्यास माना है—

---

१. मनु ६, ११–१२।
२. द, बौधायन ध० २. ६. ११. १६–१७ पृ० २५०। गौतम ध० ३. २५–२६। आपस्तम्ब ध० २.२१. १८–१६। २. २२. १–२४ पृ० २४२ से।
३. २. २२. २१–२३।
४. सत्यार्थप्रकाशः स० ५ पृ० १६४।
५. संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण पृ० २७६।
६. कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः॥मै० २.१७।
७. सं० वि० संन्यास प्रकरण पृ० २७६॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।श्रीभगवद्गीता ६.१ ।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।।गीता १८.१ ।

(४७) संन्यास के मुख्य कारण

संन्यास के लिये दो बातों की नितान्त आवश्यकता है जिनके विना संन्यास न लेने वाले को सुखद हो सकता हैं तथा न अन्यों के लिये, वे हैं वैराग्य तथा ज्ञान, मैत्रेय्युपनिषद् का कथन है कि जब सब वस्तुओं के प्रति मन में वैराग्य हो जाए तभी संन्यास ले अन्यथा पतित होने का भय है ।[1] नारदपरिव्राजकोपनिषद्[2] में भी यही भाव है, किन्तु वहाँ वैराग्य के स्थान पर 'वैतृष्ण्य' पद है । भाव उसका भी वैराग्य ही है । संस्कारविधि में इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है कि—संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण हैं ।[3] सत्यार्थप्रकाश में विना पूर्ण विद्या के, धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार होने का निषेध है ।[4]

(४८) संन्यास ग्रहण की आवश्यकता

व्यक्ति अन्य आश्रमों में क्रमशः विद्याग्रहण, गृहकृत्य तथा तपश्चर्या में संलग्न रहने के कारण समाज के ज्ञानवर्धन तथा धर्मवृद्धि में विशेष सहायक नहीं बन सकता । दूसरे संन्यासी निःस्पृह तथा निष्काम होता है, अतः जितनी सत्य बात वह पक्षपात छोड़कर कह सकता है उतनी अन्य आश्रमी नहीं । इस कार्य को पूर्ण करने के लिये संन्यासी का होना अनिवार्य है । सत्यार्थप्रकाश में इसका उल्लेख करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि इसके विना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकता, और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है, पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है ।

जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की

---

१. यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ।। मैत्रेय्युपनिषद् २. १९ ।

२. यदा मनसि जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ।। नारदपरिव्राजकोपनिषद् उपदेश ३, १२ ।

३. संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण पृ० २७६ ।

४. सत्यार्थप्रकाश समु० पृ० १९१ ।

उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना ही अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता ।[1]

(४६) संन्यास का अधिकार

इस विषय में कि संन्यास का अधिकार किसे है, मतैक्य नहीं है । जाबालोपनिषद्[2] तथा कूर्मपुराण[3] के अनुसार सभी द्विज संन्यास ले सकते हैं । याज्ञवल्क्य[4] भी इससे सहमत हैं, आश्रमवासिक पर्व (२६. ३३) की टीका में नीलकण्ठ ने शूद्रों को भी संन्यास का अधिकारी ठहराया है, किन्तु अधिकतर प्रमाण हमें इस बात के मिलते हैं कि ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है । बृहदारण्यकोपनिषद्,[5] मुण्डकोपनिषद्,[6] मनु[7] तथा लघुविष्णु[8] ब्राह्मण के ही संन्यासी होने का समर्थन करते हैं। वैखानस धर्म प्रश्न के अनुसार ब्राह्मणों के लिए चार आश्रम, क्षत्रियों को तीन आश्रम तथा वैश्यों के लिये दो आश्रम विहित हैं[9] । इससे भी स्पष्ट है कि संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है । भस्मजाबालोपनिषद् ने भी संन्यास ग्रहण ब्राह्मण का धर्म बतलाया है ।[10]

पहले कहा जा चुका है कि संन्यास के लिए दृढ़ वैराग्य तथा पूर्ण ज्ञान का होना आवश्यक है । जिन लोगों ने ब्राह्मण से भिन्न वर्णों को संन्यास का अधिकारी ठहराया है, उन्होंने केवल वैराग्य को ही प्रमुखता दी है · किन्तु केवल वैराग्य ही संन्यास में कारण नहीं है, अपितु पूर्ण ज्ञान का होना भी नितान्त आवश्यक है। अन्यथा ज्ञान के अभाव में वह लोगों को सद्धर्म का उपदेश कैसे दे सकता है तथा उनकी शास्त्रीय शंकाओं का समाधान कैसे कर सकता है तथा साथ ही यह भी भय है कि वह स्वयं मार्ग न जानने के कारण अन्य लोगों को मार्गच्युत कर दे । इसीलिए महर्षि दयानन्द

---

१. सत्यार्थ प्र० समु० ५, पृ० १६२ ।
२. जाबालोपनिषद् ४ ।
३. कूर्मपुराण (उत्तरार्ध २८.२) ।
४. या० व० ३.३२ ।
५. बृ० उ० ४.४.२२ तथा ३.५.१ ।
६. मु० उ० १.२.१२ ॥
७. मनु० ६.३८ ॥
८. लघुविष्णु ५.१३ ।
९. ब्राह्मणानां चातुराश्रम्यं क्षत्रियाणां त्र्याश्रम्यं वैश्यानां द्व्याश्रम्यं विहितम् ।।वैखानस धर्म प्रश्न, प्रश्न १, खण्ड ६ सू० ८ पृ० १० ।
१०. नित्योऽयं धर्मो ब्राह्मणानां ब्रह्मचारिगृहिवानप्रस्थयतीनाम् ।। भ० जा० अध्याय १ पृ० ५६२ ।

ने सत्यार्थप्रकाश में ब्राह्मण को ही संन्यास ग्रहण का अधिकारी माना है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने भी केवल ब्राह्मण को ही संन्यास के योग्य माना है।[2] अत: संन्यास के लिये शमदमादि ब्राह्मण के गुण आवश्यक हैं, ब्राह्मणत्व प्राप्त व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण का अधिकारी है।

(५०) संन्यास का काल

संन्यास का आधार ज्ञान तथा वैराग्य होने से इसके लिए कोई काल निश्चित करना उपयुक्त नहीं है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् तथा जाबालोपनिषद् का कथन है कि 'ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थी बने, गृहस्थ से वनी बन कर संन्यासी हो जावे। अथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले ले अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थ से।···जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन प्रव्रज्या ले ले।[3] इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य में ज्ञानार्जन के अनन्तर जब वैराग्य हो तभी संन्यास लिया जा सकता है।

मनु के अनुसार आयु का तृतीय भाग अर्थात् ५१ से ७५ वर्ष तक का समय वन में व्यतीत करके आयु के चतुर्थ भाग में सब मोहादि संगों को छोड़ कर संन्यासी हो जाए।[4] संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने तृतीय भाग का अर्थ 'अधिक से अधिक २५ वर्ष अथवा न्यून से न्यून १२ वर्ष किया है तथा ७० वर्ष के पश्चात् संन्यासी होने का उल्लेख किया है।[5]

महर्षि दयानन्द ने मनु तथा जाबाल आदि का समन्वय करते हुए संन्यास के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ हो के वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे। यह क्रम संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को 'क्रम संन्यास' कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश में इसे पक्षक्रम कहा है।[6] द्वितीय प्रकार—यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद् वा॥

---

१. सत्यार्थ प्र०, समु० ५, पृ० १६१।

२. बृहदारण्यकोपनिषद ३.५.१ तथा ४.५.१५।

३. ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा,···यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद् खण्ड ४ पृ० १४५ परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् १ पृ० ४८२।

४. मनु० ६.३३।

५. संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण पृ० २८३।

६. सत्यार्थप्र० समु० ५, पृ० १८३।

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे, उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान करके गृहस्थाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा मन से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण पर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।[1]

महर्षि दयानन्द का यह भी निश्चित मत है कि उपर्युक्त गुण युक्त ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने वाला ही संसार का अधिक उपकार कर सकता है। सत्यार्थप्रकाश में इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।[2]

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संन्यासाश्रम ब्रह्मचर्य में पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करने के उपरान्त वैराग्य होने पर कभी भी लिया जा सकता है। उसके लिये समय की सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। वैराग्य तथा पूर्ण ज्ञान के अभाव में वृद्धावस्था में भी संन्यास नहीं लिया जा सकता।

(५१) संन्यास के भेद

कतिपय परवर्ती उपनिषदों में संन्यासी के भेद किये गये हैं, यथा—

(क) आश्रमोपनिषद् में संन्यासी के चार भेद हैं—(१) कुटीचर, (२) बहूदक, (३) हंस और (४) परमहंस।[3] तुरीयातीतोपनिषद्[4], शाट्यायनीयोपनिषद्[5], भिक्षुकोपनिषद्[6] तथा वैखानस[7] धर्म प्रश्न में 'कुटीचर' के स्थान पर 'कुटीचक' पाठ उपलब्ध होता है। शेष नाम तथा क्रम आश्रमोपनिषद् के समान ही हैं।

---

१. संस्कार विधि, संन्यास प्रकरण पृ० २७६।
२. सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ५ पृ० १६२।
३. आश्रमोपनिषद् ४।
४. तुरीया० १।
५. शाट्यायनीय० ११।
६. भिक्षुको० १।
७. वैखानस ध०प्र० १.६.१।

(ख) संन्यासोपनिषद्, में संन्यासियों के अन्य चार भेद किये गए हैं—

(१) वैराग्य संन्यासी, (२) ज्ञान संन्यासी, (३) ज्ञान वैराग्य संन्यासी तथा (४) कर्म संन्यासी ।[1]

(ग) संन्यासोपनिषद् ने कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस इन चार भेदों के अतिरिक्त संन्यास के, तुरीयातीत तथा अवधूत ये दो अन्य भेद माने हैं । पराशर-माधवीय ने परमहंसों के विद्वत् परमहंस तथा विविदिषु ये दो भेद किये हैं ।[2]

(घ) ये सब भेद संन्यासियों के विभिन्न कार्यों के कारण थे । महर्षि दयानन्द ने भी दो प्रकार के संन्यास की ओर संकेत किया है—एक मुख्य, जिसका प्रतिपादन मुख्यतया किया जा रहा है तथा दूसरा गौण संन्यास, जिसका मनु[3] के आधार पर इस प्रकार उल्लेख किया है—'जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ=परमेश्वर का विचार भी किया करे । यही अज्ञानियों का शरण, अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख की खोज करने हारे और यही अनन्त सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है ।[4]

(५२) संन्यास में वर्जनीय वस्तु

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि संन्यास में कुछ वस्तुओं का त्याग भी करना पड़ता है, हम उनके विभाग करते हैं—

(१) आन्तरिक त्याग तथा (२) बाह्यत्याग । आन्तरिक त्याग में सर्वप्रथम एषणाएँ आती हैं, जो तीन प्रकार की हैं—

(क) **पुत्रैषणा**—पुत्रादि का मोह

(ख) **वित्तैषणा**—धनादि पदार्थों का मोह तथा

(ग) **लोकैषणा**—सांसारिक जनों की प्रशंसा का मोह[5]

ये सब एषणाएँ परस्पर में ऐसी गुंथी हुई हैं कि एक के शेष रहने पर अन्यों का आना भी सम्भव है तथा ये मानव स्वार्थपरता में कारण हो सकती हैं । अन्य त्याज्य वस्तुयें हैं—

---

१. संन्यासोप० २.१३ ।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, अनु० चौबे अ० २८ पृ० ४९५ ।

३. मनु० ६.८४ ।

४. संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण, पृ० २७६ ।

५. पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ शतपथ १४.६.२.१ ।

(घ) काम—संन्यासियों को अपनी इन्द्रियों पर वशीकार होना चाहिये।[1]

(ङ) क्रोध—अन्यों के क्रोध करने पर भी उसे क्रोध नहीं करना चाहिये।[2]

(च) लोभ—उसे सांसारिक वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति से बचना चाहिये किन्तु लोकहित के लिये अपने पास अपनत्वशून्य भाव से वस्तु रख सकता है।[3]

इसी प्रकार राग, द्वेष, मद, माया, द्रोह आदि से भी उसे सदैव बचना चाहिये।

दूसरे बाह्य चिह्न जिनको संन्यास के समय त्यागना होता है। शिखा एवं सूत्र एवं अग्निहोत्र। किन्तु इस विषय में हमें अनेक मत मिलते हैं। कुछ विद्वान् शिखा सूत्र को संन्यास लेते समय छोड़ने का विधान करते हैं तो कुछ न छोड़ने का। छोड़ने का विधान करने वालों में मनु[4], परमहंस परिव्राजकोपनिषद्[5], संन्यासोपनिषद्[6] तथा बौधायन[7] मुख्य हैं। गौतम धर्म सूत्र की मिताक्षरावृत्ति में हरदत्त ने भी 'अत्र श्रुतिस्मृती, कह कर शिखा सहित बाल कटाने तथा बहिःसूत्र—यज्ञोपवीत को छोड़ने का उल्लेख किया है।[8] महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि[9] तथा सत्यार्थप्रकाश[10] में यही मान्यता रखी है।

दूसरे विद्वानों के अनुसार संन्यासी शिखासूत्र भी रख सकता है। इस विषय में संन्यासोपनिषद् का मत है कि ६ प्रकार के संन्यासियों (कुटीचक–बहुदक–हंस–परमहंस–तुरीयातीत तथा अवधूत) में से कुटीचक तथा बहूदक शिखा एवं यज्ञोपवीत रखते हैं।[11] गौतम धर्मसूत्र के भाष्यकार मस्करी ने लिखा है कि 'जो नखों को काट

---

१. इन्द्रियाणां निरोधेन। मनु० ६.६०, अहिंसा येन्द्रियासंगैः।

२. क्रुध्यन्तं न प्रति क्रुध्येत्।

३. रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत्॥
नारद परिव्राजकोपनिषद्, पृ० ३१०।

४. क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः॥ मनु० ६.५२।

५. प्रणवेन शिखामुत्कृष्य यज्ञोपवीतं छित्वा॥ परमहंस परि० पृ० ४८३।

६. शिखामुत्पाटच···यज्ञोपवीतं छित्वा॥ संन्यासोपनिषद् २.६ पृ० ४७६।

७. शिखामुण्डः॥ बौधायन धर्मसूत्र २.६.११.२०।

८. सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः॥
गो० ध० ३.२१ पर हरदत्त।

९. संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण।

१०. सत्यार्थप्रकाश, पंचम समुल्लास पृ० १८६। उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़···।

११. कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः······
बहूदकः शिखादिकन्थाधरः॥ संन्यासोपनिषद् अ० २.१३ पृ० ४७७।

कर तथा यज्ञोपवीत को छोड़कर' कहा है, वहाँ भी संन्यासाश्रम में प्रवेश के समय पुराने यज्ञोपवीत का त्यागमात्र किया जाता है। उस समय ग्रहण किये यज्ञोपवीत का वहाँ निषेध नहीं किया गया। अन्य स्मृतियों में कहा गया है कि 'नखों को काट कर पुराने यज्ञोपवीत तथा कमण्डलु को छोड़कर नये लेकर आश्रम में—संन्यासाश्रम में—प्रवेश करे।'[१]

इस विषय में एक तीसरा मत भी उपलब्ध होता है। वह है गौतम धर्मसूत्रकार का। उसका कथन है कि 'संन्यासी सब बाल मुण्डा भी सकता है तथा शिखा भी रख सकता है।'[२] इस सूत्र की मिताक्षरावृत्ति में हरदत्त ने स्मृति के नाम से वचन उद्धृत किये हैं, जिसका भाव है कि शिखा सहित बाल कटवा कर बहिःसूत्र को छोड़ दे, अथवा शिखा तथा यज्ञोपवीत रखे।[३] सूत संहिता (२.६.२–१०) के अनुसार केवल हंस और परमहंस ही शिखासूत्र का त्याग कर सकते हैं। वशिष्ठ यति को यज्ञोपवीती कहता है (वशिष्ठ स्मृति श्लोक २६७।)

इस प्रकार इस विषय में मत विभिन्नता है। किन्तु यजुर्वेद भाष्य में जो संन्यासी के विशेषण आये हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संन्यासी को शिखा तथा यज्ञाग्नि को छोड़ना अनिवार्य है। विशेषण इस प्रकार हैं—

व्युप्तकेशाय—विशेषतयोप्ताश्छेदिताः केशा येन तस्मै संन्यासिने।[४]

विशिखासः—विगतशिखाः संन्यासिनः।[५]

अहुतादः—येऽहुतमदन्ति ते।[६]

उपर्युक्त दो पदों से संन्यासी के केशच्छेदन का स्पष्ट उल्लेख है तथा अन्तिम पद से यज्ञाग्नि में विना आहुति दिये खाने का प्रतिपादन किया है। महर्षि दयानन्द

---

१. "नखानि निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृज्य" इति तत्रापि प्रथमं संन्यासाश्रमप्रवेशकाले पुराणस्य यज्ञोपवीतस्य त्यागमात्रं क्रियते, न तदानीं गृह्यमाणस्य प्रतिषेधः कृतः। कुतः—"नखानि निकृत्य पुराणं वस्त्रं यज्ञोपवीतं कमण्डलुं त्यक्त्वा नवानि गृहीत्वाऽऽश्रमं प्रविशेत्" इति स्मृत्यन्तरश्रवणात्॥ (अनिचयोभिक्षुः, गौतम धर्मसूत्र ३.११ पर मस्करिभाष्य, पृ० ६६।

२. मुण्डश्शिखी वा गौतम ध० ३.२२ पृ० ७०।

३. सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।...
शिखायज्ञोपवीती च यद्वा सम्यक् प्रबाधितः॥
गौतम ध० सू० ३.२१ पर हरदत्त की मिताक्षरावृत्ति।

४. यजुर्वेदभाष्य १६.२९।

५. य० भा० १६.२९।

६. य० भा० १७.१३।

ने संन्यासी के लिये बाह्य अग्नियों को अन्दर धारण करने का उल्लेख किया है। यजुर्वेद भाष्य में उन्होंने लिखा हैं—'जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्नि क्रिया से रहित अर्थात् आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्धी बाह्य कर्मों को छोड़ के आभ्यन्तर अग्नि को धारण करने वाले संन्यासी हैं, वे होम को नहीं किये भोजन करते हुए सर्वत्र विचर के सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें।[1]

सत्यार्थप्रकाश में भी उल्लिखित है कि प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि पाँच अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आवसथ्य और सभ्य) को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों प्राणों में आरोपण करके, ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे।[2] मनु[3] तथा न्यायसूत्र[4] के वात्स्यायन भाष्य में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है। मनु[5], आपस्तम्ब[6] तथा बौधायन संन्यासी को 'अनग्निः' अर्थात् अग्निहोत्र न करने वाला कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि संन्यासी न यज्ञ करता है और न यज्ञोपवीत धारण करता है क्योंकि यज्ञोपवीत यज्ञ कर्म के लिये ही धारण कराया जाता है। ब्रह्मचारी को उपनयन के समय यज्ञोपवीत देकर ही यज्ञ का अधिकारी माना जाता है। यज्ञोपवीत के 'यज्ञ', 'उप' तथा 'वीत' पद भी यज्ञ के समीप पहुँचने के अर्थ के ही द्योतक हैं।

बौधायन के अनुसार संन्यासी सायं तथा प्रातः अग्निहोत्र के मन्त्रों को जपता है।[7]

(५३) वेदों में संन्यास का उल्लेख

वेदों में संन्यास पद का उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु सामवेद में 'संन्यसे' पद मिलता है, जिससे यह स्पष्ट है कि वेद इस पद से रहित नहीं है। ऋग्वेद में यति[8] आदि पद तथा अथर्ववेद में 'व्रात्य एवं अतिथि[9]' पद संन्यासी के ही पर्यायवाची हैं।

---

१. य० भा० १७.१३ का भावार्थ।

२. स० प्र० स० ५ पृ० १८६ ॥

३. प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ मनु० ६.३८

४. प्राजापत्यां निरूप्येष्टि तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥

५. अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ मनु० ६.४३

६. अनग्निरनिकेतस्याशर्माशरणो मुनिः ॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.९.२१. १० पृ० ३३९ तथा बौधायन २.१०.१८.२५

७. सायं प्रातरग्निहोत्रमन्त्रान् जपेत् ॥ बौधायन धर्मसूत्र २.१०.१८.२३

८. ऋग्वेद ७.१२.१ ॥

९. अथर्व० १५.११.१ ॥

जैसा कि आगे उल्लेख किया जाएगा, यजुर्वेद में 'तुरीय'[1] तथा 'अतिथिम्'[2] पद आये हैं, जिनका अर्थ महर्षि दयानन्द ने क्रमशः 'हे चतुर्थ आश्रम को पूर्ण करने वाले तथा जिसके आने जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है उस संन्यासी का सेवन करते हैं', किया है। चतुर्थ आश्रम को संन्यासी ही पूर्ण करता है, अतः इस पद में संन्यास का स्पष्ट उल्लेख है।

(५४) संन्यासी के उपकरण

संन्यासी के उपकरणों के विषय में वेद कुछ निर्देश नहीं करता किन्तु मनुस्मृति में उसे दण्ड तथा कमण्डलु रखने वाला तथा कुसुम्भवान्[3] अर्थात् कुसुम्भ के पुष्पों में रंगे वस्त्रों वाला कहा गया है। बौधायन संन्यासी को[4] 'काषायवासाः' अर्थात् गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला कहता है। ऋग्वेद में मुनियों का वर्णन है, जिनके वस्त्र मलिन हैं।[5] इससे यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि तपस्या में मग्न रहने के कारण उन्हें सम्भवतः शरीर का ध्यान न रहता हो। 'मलाः' पद सम्भवतः निर्मल अर्थात् श्वेत से भिन्न का वाचक भी रहा हो। दण्डादिधारण का विधान उपनिषदों ने भी यति के लिये किया है।[6]

(५५) संन्यासी के कर्तव्य

यजुर्वेद में एक मन्त्र है, जिसका अर्थ है—जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म में [स्थित] विशेष कर ध्यान दृष्टि से देखते हुए को सब प्राणी मात्र अपने तुल्य ही सुख दुःख वाले [प्रतीत] होते हैं, उस परमात्मादि में अद्वितीय भाव को अनुकूल योगाभ्यास से साक्षात् देखते हुए योगीजन को कौन मूढावस्था और कौन शोक वा क्लेश होता है, अर्थात् कुछ नहीं।[7]

इस मन्त्र में ऐसे योगस्थ पुरुष का उल्लेख है जो १. परमात्मा ज्ञान विज्ञान तथा धर्म में स्थित है २. जिसे समस्त प्राणियों के सुख दुःख अपने ही प्रतीत होते हैं, जो एक अद्वितीय परमात्मा का योगाभ्यास से साक्षात् करता है तथा ३. जिसे न

---

१. य० भा० ८.३ ॥

२. य० भा० ३.१ ॥

३. दण्डी पात्री कुसुम्भवान् ॥ मनु० ६.५२ ॥

४. बौधायन धर्मसूत्र २.६.११.३३ ॥

५. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला. ॥ ऋग्वेद १०.१३६.२ ॥

६. नारद परिव्राजकोप० उपदेश ३.१७. पृ० ३०८ ॥ परमहंसोपनिषद् पृ० १९६। भिक्षुकोपनिषद् १. पृ० ४२६। तुरीयातीतोपनिषद् १, पृ० ४७४। संन्यासोपनिषद् २.९५ पृ० ४७६। परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् १ पृ० ४८३ ॥

७. य० भा० ४०.७ पदार्थ।

शोकाग्नि दग्ध करती है और न मोह का पाश जकड़ पाता है, यह संन्यासी की ही अवस्था है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—"जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे ही अन्यों में भी वर्तते हैं, एक अद्वितीय परमेश्वर के शरण को प्राप्त होते हैं उनको मोह शोक और लोभादि कदाचित् प्राप्त नहीं होते और जो अपने आत्मा को यथावत् जान कर परमात्मा को जानते हैं वे सुखी सदा होते हैं।[1] यहाँ स्पष्ट ही संन्यासी का उल्लेख करके ये उसके कार्य ही बताए हैं। भावार्थ से दो अन्य कर्तव्यों की ओर भी संकेत उपलब्ध होता है। वह है संन्यासी का विद्वान् अर्थात् तत्त्वज्ञ होना तथा आत्मा का यथावत् ज्ञान करके परमात्मा का ज्ञान करना। अन्यत्र यजुर्वेद भाष्य में संन्यासी को यज्ञिय पुरुषों में योगाभ्यासादि यज्ञ के योग्य, सेवने योग्य उत्तम परमात्मा की उपासना करने वाला[2] तथा सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश करने का उल्लेख मिलता है।[3]

ऋग्वेद में संन्यासी के कुछ विशेषण ऐसे आए हैं जिससे संन्यासी के कर्तव्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है यथा—

१. **वैश्वानराय**—सब मनुष्यों का नायक अर्थात् सबको सन्मार्ग पर चलाने वाला।

२. **विश्वशुचे**—सबको शुद्ध करने वाला अर्थात् सबके अन्तःकरण से अज्ञान को तथा मल विक्षेप आवरण को निकालकर शुद्ध करने वाला।

३. **असुरघ्ने**—दुष्ट कर्म करने वालों का तिरस्कार करने वाला या असुरभाव विनाशक।

४. **अग्नये**—अग्नि के तुल्य विद्यादि शुभ गुणों से प्रकाशमान तथा।

५. **यतये**—सत्य तथा ईश्वर की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील[4]।

६. **जातवेदः**—प्राप्तविद्यः—विद्या को प्राप्त विद्वान्![5]

७. **इर्यः**—सत्यमार्ग में प्रेरक।

८. **परिज्मा**—सब ओर से प्राप्त होने वाले अर्थात् सर्वत्र भ्रमण करने वाले[6]।

९. स्वस्थता के हेतु क्रियाओं और सभ्य उपदेशों से रक्षा करने वाला[7]।

१०. **यजत्र**—संग करने योग्य अर्थात् जिससे लोग सन्देहों का निवारण तथा सद् ज्ञान प्राप्त करें।

---

१. य० भा० ४०.७ भावार्थ ॥
२. य० भा० १७.१३ पदार्थ।
३. य० भा० १७.१३ भावार्थ ॥
४. ऋग्वेदभाष्यम्, महर्षि दयानन्द ७.१२.१ ॥
५. वही ७.१३.२
६. वही ७.१३.३
७. यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ० ७.१३.३ का महर्षि दयानन्दभाष्यम्

११. होतः—होम करने वाला। यह संकेत कदाचित् उस यज्ञ की ओर है जिसमें संन्यासी आहवनीयादि पाँचों अग्नियों को पाँच प्राणों में आरोपित करता है। अथवा ब्रह्मयज्ञ की ओर भी संकेत हो सकता है। क्योंकि मनु का कथन है कि संन्यासी सब कर्मों को छोड़ दे किन्तु एकमात्र वेद का स्वाध्याय न छोड़े[1]। क्योंकि मनु आदि ने संन्यासी को 'अनग्निः' तथा यजुर्वेद में उसे 'अहुतादः' कहा गया है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संन्यासी बाह्य यज्ञ किये विना ही भोजन करने का अधिकार रखता है।

१२. भद्रशोचे—कल्याण का प्रकाशक

१३. देव—दिव्य गुण युक्त तथा अग्ने अग्नि के तुल्य तेजस्वी[2]

१४. मीढुषे—जल के समान सत्य उपदेशों से [सबके अन्तःकरणों को] सींचने वाले[3]

१५. कविः—उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुआ—क्रान्तदर्शी[4]

१६. वह गृहस्थों के धन की, उन्हें मितव्यय सिखाकर तथा व्यसनों से बचा कर रक्षा करे तथा उन्हें पाप से बचावे[5]

१७. श्येन पक्षी के तुल्य शीघ्र चलने वाले, पाखण्ड के नाशक, द्रव्य और विद्या के उपदेश देने वाले हों[6]

अथर्ववेद ने संन्यासी को 'व्रात्यः'—व्रतों का पालन करने वाला तथा 'अतिथि' जिसके आने की निश्चित तिथि न हो, कहा है, इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि संन्यासी अपने संन्याश्रम के नियमों का पालन करते हुए सर्वत्र विचरण करते थे तथा वे गृहस्थों के यहाँ विना पूर्व सूचना दिये पहुँच जाते थे। गृहस्थ उनका सब प्रकार से सत्कार करते थे तथा उनसे सन्देहों का निवारण कर तथा सदुपदेश लेकर कृतकृत्य होते थे।

बौधायन ने संन्यासी को सब वन्धुओं को छोड़ कर वन में जाने, शिखा कटाने, कौपीन मात्र धारण करने, वर्षा ऋतु में एक ही स्थान पर रहने, काषाय वस्त्र धारण करने, स्वाध्याय के समय ही वाणी खोलने तथा भिक्षा माँग कर खाने

---

१. मनु ६.९५

२. ऋ० ७.१४.२ पर म० दया० भाष्यम्

३. ऋ० ७.१५.१ ॥

४. ऋ० ७.१५.२ ॥

५. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान् पात्वंहसः।
ऋ० ७.१५.३ ॥

६. ऋ० ७.१५.४ का भावार्थ, म० दया०।

का उल्लेख किया है।[१] इसी प्रकार आपस्तम्ब[२] तथा गौतम[३] ने भी संन्यासी के कर्तव्यों की चर्चा की है। वशिष्ठ[४], मनु[५], सम्वर्तादि स्मृतिकारों[६] ने भी इस विषय की विशद विवेचना की है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् ने संन्यासी को अजिह्व, षण्डक, पंगु, अन्ध, वधिर तथा मुग्ध कहा है, जिसकी व्याख्या में उसका इन्द्रियनिग्रह द्योतित होता है।[७] उसे राग, द्वेष, मद, माया, द्रोह तथा मोह का मन से भी चिन्तन न करना चाहिये[८]

—:०:—

---

१. बोधायन धर्म सूत्र २.६.११.१८–२४
२. आपस्तम्ब ध० सू० प्रश्न २, प्रटल ६ सूत्र ७–१३
३. गौतम ध० सू० प्रश्न १ अध्याय ३, सूत्र १०–२५
४. वशिष्ठस्मृति श्लोक २४४–२६७॥
५. मनु—६.३३—८१
६. सम्वर्तस्मृति श्लोक १०१–१०६॥ पुलस्त्य स्मृति श्लोक ७ से
७. अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो वधिर एव च।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेते न संशयः॥६२
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि सज्जति।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥६३
अधजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः॥६४
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः॥६५॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगां भुवं भुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥६६
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्।
श्रुत्वापि न शृणोतीव वधिरः स प्रकीर्तितः॥६७
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते॥६८
८. रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत्॥७०
(नारद परिवाजकोपनिषद्, उपदेश ३ श्लोक ६२–६८, ७० पृ० ३१० –११)

दशम-अध्याय

उपसंहार

महर्षि दयानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के महान् विद्वान्, तत्वज्ञ एवं समाज को जर्जरित करने वाली कुरीतियों के दूर करने में सतत जागरूक स्वतंत्रता प्रेमी व्यक्ति हुए थे। वेदों पर उनको पूर्ण आस्था थी। वे वेदों का ईश्वरकृत तथा निर्भ्रान्त मानते थे। उनके अनुसार वेद याज्ञिक पद्धतियों का ही विधान नहीं करते, अपितु वे सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं तथा उनका पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है।[1] अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने यजुर्वेद को भी केवल दर्शपौर्णमासादि यज्ञों का ही विधायक नहीं माना, अपितु उसमें समाज को जीवन देने वाले तथा उन्नति प्रदायक तत्वों का समावेश माना है। उसी को आधार बनाकर इस शोध–प्रबन्ध में समाज व्यवस्था पर विचार किया गया है।

वैदिक धर्म विचार का कार्य करने पर बल देता है। इसी कारण मनु ने धर्म उसे कहा है जो तर्क से अनुसन्धित हो।[2] यजुर्वेद में समाज के संगठन पर बल दिया गया है। यजुर्वेद की याज्ञिक व्याख्या करने वाले भी अनेक यज्ञों में अनेक यज्ञ करने वालों का उल्लेख करते हैं।[3] ३० वें अध्याय में ही १८४ प्रकार के पुरुषों की चर्चा मिलती है। ये सब समाज के ही अंग हैं।

वेदों के भावों को समझाने का कार्य ब्राह्मण ग्रंथों के निर्माण से ही प्रारंभ हो गया था। अन्य भी अनेक आचार्य हुए जिन्होंने पृथक् २ वेदों के भाष्य किये। इनमें सायण मुख्य हैं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा को छोड़कर अन्य सभी वेदों पर उनके भाष्य मिलते हैं। इस शाखा पर उवट तथा महीधर ने कात्यायन श्रौतसूत्र का अनुसरण करते हुए याज्ञिक पद्धति से वेदभाष्य लिखा। किन्तु इन सभी आचार्यों के भाष्य, वेदों के महत्व को सुरक्षित न रख सके। अनेक बार तो वेद पर श्रद्धा रखने वाले लोगों ने भी जब उन भाष्यों को किसी से सुना तो उन्हें वेद के प्रति अश्रद्धा हुई। उनके वेदभाष्यों में यत्र तत्र पुनरुक्ति, हिंसा, अश्लीलता, असम्भव बातें तथा इतिहास आदि के संकेत मिलते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य इन सब दोषों से रहित है। केवल एक स्थल पर वामदैव्यम् का जो अर्थ वामदेवेन दृष्टं

---

१. आर्य समाज का तृतीय नियम।

२. यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः ॥ मनु० १२.१०६ ॥

३. यथा चार्तुमास्य अश्वमेधादि में—द्र० उवट महीधर भाष्य–अ० ३ तथा २३ ॥

विज्ञातं विज्ञापितं वा[1] किया है वह इतिहास की दृष्टि से चिन्त्य है। उनके वेदभाष्य में यौगिक अर्थ की तथा वेद के जन जीवन से संबंधित होने की भी विशिष्टता है।

उनके वेदभाष्य में समाज का वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है। यह वर्गीकरण उन्होंने गुणकर्मानुसार किया है। वे जन्म से वर्णव्यवस्था को नहीं मानते। उनके यजुर्वेद भाष्य में भी ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे गुणकर्मस्वभावानुसार ही वर्णों का निश्चय होता है। उनके ग्रंथों में वर्ण परिवर्तन का उल्लेख भी मिलता है।[2] अन्य आचार्यों ने भी वर्ण परिवर्तन को स्वीकार किया है।[3] शूद्रों को उन्होंने वेद मंत्र के आधार पर मानव-समाज रूपी शरीर का एक अंग माना है[4] तथा उसे वेदाध्ययन के अधिकार प्रदान किये हैं। वे केवल चार वर्ण मानते हैं, अनेक जाति उपजातियां उन्हें अभीष्ट नहीं हैं।

आश्रम व्यवस्था के भी महर्षि दयानन्द प्रबल पक्षपाती थे। उनके अनुसार जीवनक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों का पालन करते हुए व्यतीत करना था। ब्रह्मचर्य सबके लिए अनिवार्य है। चारों वर्णों के बालक आचार्य कुल में अध्ययन के लिए जाएँ। आचार्य आचारवान् धर्मात्मा, विद्वान् तथा ब्रह्मचारियों के हितचिन्तक हो। जब तक ब्रह्मचारी आचार्य कुल में रहें तब तक माता पिता से उनका सम्पर्क न हों। सह-शिक्षा उन्हें अभीष्ट नहीं है। केवल चार वर्ष तक के शिशु ही एक दूसरे के विद्यालय में आ जा सकते हैं, क्योंकि वे निर्दोष तथा केवल वात्सल्य भाव को उत्पन्न करते हैं। अतः उनका प्रवेश वर्जित नहीं माना। पांच वर्ष से अधिक के बालक तथा बालिका अपने से विपरीत विद्यालयों में न जाएं। शिक्षा को महर्षि दयानन्द अनिवार्य मानते हैं।

गृहस्थ आश्रम उनकी दृष्टि में ज्येष्ठ आश्रम है। जैसे नद एवं नदियों का आश्रय समुद्र है इसी प्रकार अन्य तीनों आश्रयों का आश्रय गृहस्थाश्रम है। गृहस्थ के प्रवेश का समय २५ वें वर्ष से ४८ वें वर्ष तक है। यह विवाह गुणकर्म स्वभावों को मुख्यता देकर किया जाना चाहिए। यद्यपि रूप एवं शारीरिक प्रमाण भी उपेक्षित नहीं है, किन्तु गुण आदि की समता सर्वाधिक है। उसके विना गृहस्थाश्रम नरक बन जाता है। महर्षि दयानन्द स्वयंवर विवाह को मान्यता देते हैं, क्योंकि विवाह में वर-कन्या की मुख्यता है। तथा यह हृदय की स्वीकृति पर निर्भर है। अतः विवाह में इन दोनों की स्वीकृति आवश्यक है। माता पिता की सम्पत्ति भी मूल्यवान है तथा उसकी भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। किन्तु यदि लड़का लड़की में से कोई

---

१. यजु० १२.४ ॥
२. स० प्र० पृष्ठ १२४.१३० ॥
३. प्रस्तुत शोध प्रवन्ध का द्वितीय अध्याय-वर्ण परिवर्तन ॥
४. ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्-यजु० ३१.११ ॥

विवाह के लिये तैयार नहीं है तो वह विवाह नहीं होना चाहिए। विवाह आचार्य कुल तथा पितृकुल दोनों ही स्थानों से हो सकता है। गृहस्थ बन कर दोनों संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए, वेदानुमोदित कृत्यों को करते हुए सन्तानोत्पत्ति उनका पालन, रक्षण तथा विद्या एवं गुणों से संवर्धन करें कराएं। साथ ही माता पिता आचार्यादि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करें।

गृहस्थ आश्रम का वेदोक्त विधि से पालन करके जब गृहस्थ के बाल श्वेत हो जाएं, मुख पर झुर्रियां आने लगें तथा पुत्र के घर भी पुत्र हो जाए तब वह गृहस्थ को त्याग कर आत्मोन्नति के लिये वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करलें। वहां वन में रहते हुए जंगली कन्द मूल आदि से निर्वाह करें तथा उसी से पंच महायज्ञ करें। स्वाध्याय तथा आत्मोन्नति के लिये नित्य यत्नवान् रहता हुआ वे जीवन के तृतीय भाग को पूर्ण करें। इसके उपरान्त आयु के चतुर्थ भाग में संन्यास ग्रहण करें। संन्यास में ज्ञान तथा वैराग्य को प्रमुखता है। इसीलिये संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। वह सब लोगों को धर्म का उपदेश देता है तथा उनके अन्दर से पाखण्ड को दूर कर सत्य मार्ग सुझाता है। इससे समाज में सुख-शान्ति की वृद्धि होती है।

—:०:—

सहायक ग्रंथ सूची

१. वैदिक संहिता (मूल)—

ऋग्वेद संहिता—वैदिक यंत्रालय अजमेर ।

यजुर्वेद संहिता—वाजसनेयी–वैदिक यंत्रालय अजमेर ।

शुक्ल यजुर्वेद काण्व संहिता—सातवलेकर ।

कृष्ण यजुर्वेद काठक संहिता—स्वाध्याय मण्डल औंध–१९४३ ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता—वही–१९४५ ।

कृष्ण यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता—वही–१९९८ वि० ।

२. वेदभाष्य—

यजुर्वेद भाष्यम्—दयानन्द–प्रथमो भागः–अजमेर–सं० २०१५ वि० ।

यजुर्वेद भाष्यम्—दयानन्द–द्वितीय भागः–अजमेर–सं० २०१७ वि० ।

यजुर्वेद भाष्यम्—दयानन्द–तृतीयो भागः–अजमेर–सं० २०१८ वि० ।

यजुर्वेद भाष्यम्—चतुर्थो भागः–अजमेर–सं० २०१८ वि० ।

ऋगर्थदीपिका—माधव–लाहौर–१९३९ ।

ऋग्वेद संहिता—सायण–चार भाग–पूना–शके १८६८ ।

ऋग्वेद भाष्यम्—स्कन्द स्वामिन्–मद्रास–१९३५ ।

ऋग्वेद संहिता—जयदेव शर्मा विद्यालंकार–आर्य साहित्य मण्डल अजमेर ।

ऋग्वेद भाष्यम्—दयानन्द–सार्वदेशिक सभा दिल्ली–सं० १९३०–३१ वि० ।

यजुर्वेद संहिता–प्रथम खण्ड–जयदेव शर्मा–अजमेर–१९३० ।

यजुर्वेद संहिता—द्वितीय खण्ड–जयदेव शर्मा–अजमेर–१९८८ वि० ।

यजुर्वेद—श्रीरामशर्मा–आचार्य–गायत्री तपोभूमि–मथुरा–१९६० ।

शुक्लयजुर्वेदस्य ब्रह्मभाष्यम्—ज्वालाप्रसाद शर्मा १९४१ वि० ।

सामवेद भाष्य—तुलसीराम स्वामी–मेरठ ।

सामवेद भाष्य—स्वामी भागवतानन्द ।

अथर्ववेद–शौनकीय–सायण–होशियारपुर–१९६० ।

रावणभाष्यम्—अनु० डा० सुधीरकुमार गुप्त–जयपुर ।

३. वैदिक साहित्य—

ऐतरेय ब्राह्मण—सायण भाष्य–प्रथमो भागः–आनन्दाश्रम पूना–१९३० ।

ऐतरेय ब्राह्मणम्—सायण भाष्य–द्वितीय भागः–वही–१९३१ ।

तैत्तिरीय ब्राह्मणम्—सायण भाष्य—प्रथमो भागः–वही–१९३४ ।

तैत्तिरीय ब्राह्मणम्—सायण भाष्य–द्वितीयो भागः–वही–१९३८ ।

शतपथ ब्राह्मणम्—वैदिक यंत्रालय–अजमेर–सं० १९५९ वि० ।

गोपथ ब्राह्मण—क्षेमदास त्रिवेदी ।

सूत्र—

गौतमधर्म सूत्र—आपस्तम्ब धर्मसूत्र—बौधायन धर्मसूत्र—वैखानसधर्म प्रश्न—वैतान श्रौत्रसूत्र—होशियारपुर ।

कात्यायन श्रौत्रसूत्र—अच्युत ग्रन्थमाला काशी—सं० १९८७ वि० ।

कात्यायन श्रौत्रसूत्र—चौखम्बा प्रकाशन—बनारस—सं० १९८९ वि० ।

गोभिल गृह्यसूत्र—डा० उदयनारायण सिंह—विद्दूपुर बाजार मुजफ्फरपुर—१९३४ ।

वाराह—वही—१९३४ ।

खादिर—रुद्रस्कन्दवृत्ति सहितम्—वही—१९३४ ।

लौगाक्षि—देवपाल—प्रथमोभागः—निर्णय सागर बम्बई—१९२८ ।

वही—द्वितीयोभागः—वही—१९३४ ।

शांखायन गृह्यसूत्र—कौषीतक गृह्यसूत्र—द्राह्यायण गृह्यसूत्र—काथुम गृह्यसूत्र—मानव गृह्यसूत्र—आश्वालायन गृह्यसूत्र—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ।

उपनिषद्—

कौषीतकि उपनिषद्—श्वेताश्वतर उपनिषद्—बृहदारण्यक उपनिषद्—जाबालोपनिषद्—भस्मजाबालोपनिषद्—आश्रमोपनिषद् ।

स्मृति—

मन्वर्थमुक्तावली—कुल्लूक—निर्णय सागर बम्बई—१९४६ ।

याज्ञवल्क्यस्मृति—मिताक्षरा टीका ।

वृहद् पाराशर स्मृति

हारीत स्मृति) बाबा कुतुब बरेली—१९६६ ।
शंख स्मृति)

गौतम स्मृति—वही—१९७१ ।

वशिष्ठ स्मृति—वही ।

बीस स्मृतियां खण्ड १—२ बरेली ।

वैदिक निघण्टु—लखनऊ सं० १९९४ वि० ।

निरुक्तम्—दुर्गाचार्य भाष्य ।

निरुक्तभाष्य—चन्द्रमणि विद्यालंकार—कन्या गुरुकुल नरेला—२०३३ वि० ।

४. व्याकरण—

अष्टाध्यायी सूत्रपाठः—रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर—१९६४ ।

व्याकरण महाभाष्यम्—गुरुकुल झज्जर रोहतक—१९६२ ।

माधवीयाधातुवृत्तिः—सायण—प्राच्य भारतीय प्रकाशन वाराणसी—१९६४ ।

क्षीरतरंगिणी—रामलाल कपूर ट्रस्ट—बनारस ।

काशिका—वामन जयादित्य—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस—१९५२।
धातुपाठ—वैदिक यंत्रालय अजमेर—१९५७।
उणादिकोष:—वही—२०२१ वि०।

५. रामायण—वाल्मीकि—चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी—१९५७।
महाभारत—गीता प्रेस गोरखपुर।

६. वेद सम्बन्धी ग्रन्थ—
ऋग्भाष्योपक्रमणिका— सायण—वाराणसी—२०१६ वि०।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—दयानन्द—अजमेर—२००८ वि०।
वेद रहस्य—श्री अरविन्द—आचार्य जयदेव विद्यालंकार—१९४८।
वैदिक सम्पत्ति—रधुनन्दन शर्मा, बम्बई।
वेदों का यथार्थ स्वरूप—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड—गुरुकुल कांगड़ी—२०१४।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास—भाग २—भगवद्दत्त—प्रणव प्रकाशन—नई दिल्ली—१९७६।
वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय—शारदा मन्दिर काशी—१९६७।
वेदामृत—स्वामी वेदानन्द जैन—ज्ञान प्रकाशन—नई दिल्ली—२०२६ वि०।
ब्रह्मचर्यगीत—आचार्य अभयदेव—गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०—हरिद्वार।
ऋग्वेद् में आचार सामग्री—डा० सत्यप्रिय शास्त्री—मेरठ वि० वि० में प्रस्तुत शोधग्रंथ।

७. महर्षि दयानन्द के अन्य ग्रंथ—
सत्यार्थप्रकाश—बहालगढ़ सोनीपत हरियाणा—१९७२।
संस्कारविधि—बहालगढ़—१९७४।
व्यवहारभानु—दिल्ली—सं० २०२४ वि०।
आर्योद्देश्यरत्नमाला—ज्वालापुर—१९७४।
पंचमहायज्ञविधि—रामलाल कपूर ट्रस्ट—अमृतसर—२००९।
व्याख्यान मंजरी—दयानन्द संस्थान दिल्ली—२०३२।

८. कोष—
वैदिककोष:—हंसराज—दयानन्द महाविद्यालय लोहारू—१९२६।
वैदिककोष:—डा० सूर्यकान्त—बनारस, वि०वि०—१९६३।
वैदिककोष:— राजवीर शास्त्री—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट—दिल्ली १९७५।
ब्राह्मणोद्धारकोष—विश्वबन्धु—होशियारपुर—१९६६।
आप्टे पदानुक्रमकोष—होशियारपुर।
संस्कृत—हिन्दी कोष—मोतीलाल बनारसीदास—दिल्ली—१९२६।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ—इलाहाबाद–१९२७ ।

९. पुराण—

हरिवंश पुराण—

ब्रह्मपुराण—बम्बई–१९०८ ।

विष्णुपुराण—गोरखपुर–२००९ ।

भागवतपुराण—मद्रास–१९३७ ।

वायुपुराण—पूना–१९०५ ।

भविष्यपुराण—बम्बई–१९५९ ।

कूर्मपुराण–

मार्कण्डेयपुराण—कलकत्ता—१८८२ ।

१०. संस्कृत ग्रंथ—

रघुवंश—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई—१९८० ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदास–साहित्य भण्डार–मेरठ ।

मानवधर्मशास्त्रस्य मानवार्थभाष्यम्–इन्दिरारमण–काशी विद्यापीठ–१९६७ ।

भर्तृहरिशतकम्–आर्यप्रकाश पुस्तकालय दिल्ली–१९७२ ।

प्रश्नोत्तरी—शंकराचार्य–गीता प्रेस, गोरखपुर ।

उत्तररामचरित भवभूति–वाराणसी–१९६२ ।

चाणक्यसूत्राणि—स्वाध्याय मण्डल पारड़ा ।

११. हिन्दी ग्रन्थ—

धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे–अनु० अर्जुन चौथे काश्यप-हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश–लखनऊ ।

भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति—डा० निरूपण विद्यालंकार–मेरठ–१९७१ ।

प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति–डा० रामवीर उपाध्याय–इलाहाबाद–१९६३ ।

भारतीय समाज विन्यास—राधाकमल मुकर्जी—राजकमल प्रकाशन—दिल्ली ।

भारतीय संस्कृति—डा० देवराज—हिन्दी विभाग लखनऊ ।

भारतीय संस्कृति का विकास—डा० मंगलदेव शास्त्री—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन—१९६४ ।

समाजशास्त्रप्रवेशिका—हरदत्त एम० ए०—भारती भवन, देहरादून ।

भारतीय समाज—मन्मथनाथ गुप्त—दिल्ली—१९५२ ।

सामाजिक विचारों का इतिहास—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ।

समाजविज्ञान—चन्द्रनाथ भंडारी ।

संस्कृत और संस्कृति—डा० राजेन्द्र प्रसाद,
मनु की समाज व्यवस्था—सत्यमित्र दुबे—किताब महल इलाहाबाद—१९६४।
वर्ण व्यवस्था विचार—डा० राधाकृष्णन्—मुरादाबाद—३३
वैदिक वर्ण व्यवस्था—कविरत्न—अखिलानन्द शर्मा—आगरा।
वर्ण व्यवस्था—राजा फतहसिंह—ब्रह्मप्रैस इटावा—१९११।
वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप—ज्ञानचन्द—सार्वदेशिक सभा—दिल्ली—२००६ वि०।
भारतीय समाजशास्त्र धर्मदेव सिद्धान्तालंकार।
वेदकालीन समाज—ज्ञानी शिवदत्त—चौखम्बा प्रकाशन—वाराणसी—१९६७।
हिन्दू संस्कार—डा० राजवली पाण्डेय—वाराणसी—१९६६।
जीवित पितर—सिद्धान्तमार्तन्ड पं० अमरसिंह—वाराणसी—अनिया—२०१७।
महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषतायें—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड—२०१७।
सायण और दयानन्द—गंगाप्रसाद उपाध्याय—इलाहाबाद—१९५७।
गोमेध यज्ञ पद्धति—स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती–वैदिक साधन आश्रम-यमुनानगर।
स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार—धर्मदेव विद्या-मार्तण्ड दिल्ली।
विवाह का वैदिक आदर्श—नन्दकिशोर—गुरुकुल कांगड़ी—१९६४।
वैदिक साहित्य में नारी—प्रशान्तकुमार वेदालंकार वासुदेव प्रकाशन—दिल्ली—१९६४।
मेरा धर्म—प्रियव्रत वेदवाचस्पति—गुरुकुल कांगड़ी—१९५७।
कायाकल्प—बुद्धदेव विद्यालंकार—दिल्ली—२००६।
यज्ञ में पशुवध वेदविरुद्ध—चन्द्रमणि विद्यालंकार—देहरादून—१९६३।
वैदिक पशु यज्ञ मीमांसा—विश्वनाथ विद्यालंकार—अजमेर–१९२५।
किसकी सेना में भरती होगे ?—बुद्धदेव विद्यालंकार।
पंचयज्ञ प्रकाश—स्वामी समर्पणानन्द—दिल्ली–१९७०।

१२. आंग्ल ग्रंथ—

ऋग्वेद संहिता—एच० विलसन—लन्दन–१८५४–१८५७ ।

वैदिक रीडर—ए० ए० मैक्डांनल ।

हिम्स फ्राम द ऋग्वेद—पीटरसन—एम० ए०—बम्बई–१९५९ ।

वैदिक इण्डेक्स—ए० ए० मैक्डानल—और ए० बी० कीथ—वाराणसी–१९६२ ।

कास्ट इन इण्डिया—सेनार्ट ।

कास्ट इन इण्डिया—हट्टन ।

कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया—धुरिया ।।

१३. पत्रिकायें—गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार, अप्रैल १९७२ ।

सार्वदेशिक विशेषांक—जनवरी–फरवरी १९७७ ।

वेदवाणी वेदांक

दयानन्द संदेश—वेदार्थ समीक्षा विशेषांक नवम्बर–दिसम्बर १९७६.

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

100988

R14.4,SAT-M
100988